मनोबल

लेखक :

महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज

प्रकाशक :

वैदिक भक्ति साधन आश्रम

आर्य नगर, रोहतक ।

नवम् संस्करण २२००] (अगस्त १९९५) [मूल्य 6-00

वेद पाठ से पहले गाने योग्य गीत

वेद ही जग में हमारा ज्योति जीवन सार है ।
वेद ही सर्वस्व प्यारा पूज्य प्राणाधार है ।।

१ सत्य विद्या का विधाता, ज्ञान का गुरु गेय है.
मानवों का मुक्ति दाता, धर्म-धी [illegible] ।
वेद ही परमेश प्रभु का, प्रेम-पारावार है । वेद ही…

२ ब्रह्म कुल का देवता है, राज कुल रक्षक रहा
वैश्य-वंश विभूषिता है शुद्र कुल स्वामी महा
वेद ही वर्णाश्रमों का, आदि है आधार है । वेद ही…

३ श्रावणी का श्रेष्ठ उत्सव, पुन्य पावन पर्व है
वेद–व्रत–स्वाध्याय वैभव, आज ही सुख सर्व है
वेदपाठी विप्रगण का, दिव्य दिन दातार है । वेद ही…

४ वेद का पाठन पठन हो, वेद वाद विवाद हो
वेद हित जीवन मरण हो, वेद हित आह्लाद हो
आर्य जन का आज से, व्रत विश्व वेद-प्रचार है । वेद…

५ विश्व भर को आर्य करना, वेद का सन्देश है
मृत्यु से किंचित न डरना, ईश का आदेश है
सृष्टि सागर में हमारा, वेद ही पतवार है । वेद ही…
वेद ही स्वामी सखा, सब वेद ही परिवार है ।

वेद ही जग में …

॥ ओ३म् ॥

मनोबल

लेखक :

महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज

प्रकाशक :

वैदिक भक्ति साधन आश्रम

आर्य नगर, रोहतक।

नवम् संस्करण २२००] (अगस्त १९९५) [मूल्य 6.00

मुद्रक : ग्रेजुएट प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली रोड, रोहतक

॥ ओ३म् ॥

निवेदन

स्वर्गीय श्री महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज आधुनिक युग के परम तपस्वी, कर्मठ योगी एवं वैदिक मिशनरी थे जिन्होंने अपना सारा जीवन गायत्री अनुष्ठान, वेद, यज्ञ तथा योग के प्रचार प्रसार में लगा दिया। आप की प्रेमभरी वाणी बड़ी कोमल, मधुर तथा सरल थी और लेखनी अत्यन्त प्रभावशाली। जटिल से जटिल तथा गूढ़ विषयों को महात्मा जी ने बड़ी सुगम तथा रोचक भाषा में सुलझाया है यही कारण है कि सर्व साधारण ही नहीं, विद्वान भी आपकी रचनाओं का सम्मानपूर्वक अध्ययन करते हैं।

श्री महाराज जी १६—३—६७ ई० को ब्रह्मलोक सिधार गए किन्तु उनका साहित्य आज भी हमारा पथ प्रदर्शन कर रहा है। महाराज जी कृत लगभग ६ दर्जन पुस्तकों में आध्यात्मिक मार्ग का निरूपण किया गया है तथा हर पुस्तक के कई-कई संस्करण छप

चुके हैं और मांग सदा बनी रहती है। इन पुस्तकों का मूल्य केवल लागत मात्र रखा गया है ताकि सर्व साधारण इनसे अधिकाधिक लाभ उठा सकें। हमारा ध्येय प्रचार है, धन कमाना नहीं।

अतः सब धर्म-प्रेमियों से प्रार्थना है कि इन पुस्तकों का स्वयं अध्ययन करें तथा दूसरों तक पहुँचा कर पुण्य के भागी बनें।

—प्रकाशक

॥ ओ३म् ॥

मनोबल

भूमिका

प्रभु का कोटि-कोटि धन्यवाद है जिसकी अपार कृपा तथा दया से यह पुस्तक 'मनोबल' संज्ञक धर्म प्रेमियों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूं।

मुझे १९३१-३२ ई० वर्ष भर के एकान्त और मौन व्रत में जो संग्राम इस अपने मन से करना पड़ा और जो-जो कष्ट, आपत्तियां मनोवेग से मुझे सहन करनी पड़ी और कभी ऐसा निर्बल, दुर्बल और भीरू बना दे कि मैं निराश हो जाऊं और कभी ऐसा सबल बनादे कि मेरे लिए कोई कठिन और असम्भव कार्य भी एक क्रीड़ा बन जाए, इसके जो-जो अनुभव मुझे हुए मैंने उन्हें लेखबद्ध कर दिया और पूर्ण निश्चय हो गया कि —

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
पार ब्रह्म को पाइये, मन ही के प्रतीत॥

तब से मैं मन को कभी अपना शत्रु नहीं समझता,

न भूल कर इसे दुःशब्दों से पुकारता हूं। इस पुस्तक के स्वाध्याय से आपको स्पष्ट हो जाएगा कि यह मन जो कि आत्मा का जन्म-जन्मातर का पुरातन साथी, सच्चा मित्र और आज्ञाकारी सेवक है कितना बलवान और शक्तिशाली है। इसको कैसे वश में किया जा सकता है, किस प्रकार इस मन से संसार के सारे कार्य धर्मानुसार और सफलता पूर्वक किए जा सकते हैं, किस प्रकार मन से आत्मा और परमात्मा साक्षात् किया जा सकता है।

मेरा विश्वास है कि यदि आप ध्यान पूर्वक मेरे इन विचारों और अनुभवों को हृदय स्थल में स्थान देकर अपने जीवन को उनके अनुकूल बनाने का यत्न करेंगें तो जहां आपको इससे बड़ा भारी लाभ होगा वहां मैं भी अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

परमात्मन् देव से प्रार्थना है कि वह हमें सदैव सुबुद्धि और सुमति प्रदान करें और हमें सदैव सन्मार्ग पर चलाए रखें।

आपका :

टेकचन्द (प्रभुआश्रित)

वे महान थे

महात्मा जी हमारे प्रमुख शिष्य थे और हमारे में उनकी अनन्य निष्टा और भक्ति व श्रद्धा थी। वे गत १३ वर्ष से हमारे मिशन की पूर्ति कर रहे। थे उनकी निष्ठा और सेवा अद्वितीय थी। वे परम वीतराग, तपः पूत और आत्मनिष्ठ थे। वे हजारों पतितों के परित्राता, आर्तों के आर्तिहर्ता, धर्म के उद्धारक और सभ्यता तथा संस्कृति के सुधारक थे। वे भारत की पावन परम्परा के प्रतीक थे। उनके ब्रह्म हो जाने से राष्ट्र की जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति होना असम्भव है।

वे विद्वान तथा ऊंचे दर्जे के लेखक थे। उनके ग्रन्थों के अध्ययन से हजारों पथ-भ्रष्टों को सन्मार्ग लाभ हुआ है उनका जीवन निर्माण हुआ है और वे देश तथा जाति के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। जो धर्म विमुख थे वे धर्माभिमुख हो गए जो भक्ति से कोसों दूर थे वे परम भक्त बन गए और जो पतित थे वे पावन बन गए। उनकी लेखनी में ओज था शक्ति

थी तथा प्रभाव था। इनकी भाषा मर्म-स्पर्शी तथा प्रभावशालिनी है।

इनका जीवन एक खुला ग्रन्थ था। शिष्यों के लिए आचार, व्यवहार, भक्ति, निष्ठा और तप का वृहद कोष था। महात्मा जी को अपने शिष्यों को उप-देश देने की विशेष आवश्यकता न होती थी। वे इनके व्यवहार, आचरण और इनकी भगवद्-निष्ठा, इनके तप, त्याग, ज्ञान-ध्यान तथा सादगी से मौन भाव से शिक्षा ग्रहण करते थे। विनम्रता, संवेदना, सहानुभूति, सादगी और सेवा महात्मा जी के जीवन की बहुत बड़ी विशेषतायें थीं। इनकी भक्तिनिष्ठा यज्ञ प्रणाली, की इनके शिष्यों पर बहुत गहरी छाप है। इन्होंने गायत्री अनुष्ठान और अराधना का विशेष रूप से प्रचार और प्रसार किया है। इनके भक्तों के गृहों में यज्ञाग्नि गत बीसों साल से प्रज्वलित है और पीढ़ियों से चली आ रही है। प्रभु सभी को उनके मार्ग पर चलने की प्रेरणा करें।

शुभचिन्तक :
योगेश्वरानन्द सरस्वती

महात्मा प्रभु आश्रित जी

मधु मतीर्नं इषस्कृधि (य । ७२)

हमारी अभिलाषाओं को मधुरीली कर ।।

भगवन् स्वस्ति ।

महात्मा प्रभु आश्रित जी के निधन की सूचना मिलते ही मेरे मुख से निम्न शेर निकला था :-

तुम गये और सब को जाना है ।
तुम पा लेकिन कहां से आना है ।।

उनके स्थान की पूर्ति इसलिए असम्भव है कि अपनी गुरुता को लघुता के लिबास में छिपाकर रखने की क्षमता उनमें थी । संसार तो अपनी लघुता पर गुरूता का लिबास पहनाता है ।

वह आदि से अन्त तक शिशुवत् मासूम, चन्द्रवत् चन्द्रित, पुष्पवत् आह्लादित, गंगानीरवत् निर्मल रहे । पतित पावन तो वह थे ही । असंख्य मलिन जीवनों और परिवारों को उन्होंने निर्मल बनाया है ।

उनके भक्तों के लिए मैं मंगलकामना करता हूं ।

—विद्यानन्द विदेह

— प्रकाशकीय निवेदन —

पूज्य गुरुदेव महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज का सारा जीवन अनेकों साधनाओं की तपस्या में तप कर निर्मल-निर्दोष तथा प्रभु भक्ति के रंग में चमका था। साधना काल में मन की प्रबल शक्ति को मित्र बनाकर आपने जो लाभ पाये, उन्हीं को आधार बना कर आपने इस ग्रन्थ रत्न का निर्माण किया। जीवन के हर क्षेत्र में इससे लाभ पाया जा सकता है।

जब पूज्य गुरुदेव साधना के लिए उत्तराखण्ड में गए थे, तब उन्होंने अपनी साधनाशील श्रेष्ठ-शिष्या श्रीमती रामप्यारी जी (धर्मपत्नी श्री लाला लोकनाथ यज्ञ भवन जवाहर नगर, दिल्ली) को पत्र लिखकर प्रेरणा दी थी—कि घर-घर में वेद का प्रचार, यज्ञ-गायत्री का प्रसार करने के लिए ऐसी मण्डली बनाओ जो खाना-पीना अपने से करें और मिलकर बारी-बारी से वेदपाठ कथा कीर्तन और यज्ञ को श्रद्धा से किया करें।

गुरुदेव महाराज की दूरदर्शिता से तथा स्वर्गीया माता रामप्यारी जी के प्रेम-तप और लगन से यह यज्ञ-मण्डली क्रियात्मक प्रचार कर पा रही है।

स्वाध्याय प्रेमी यज्ञ-मण्डली जवाहर नगर,दिल्ली की देवियों ने इसके पुनः प्रकाशन के लिए अपनी पवित्र कमाई से धन राशि एकत्र करके प्रकाशन विभाग वैदिक भक्ति साधन आश्रम आर्य नगर, रोहतक को प्रदान की है।

यज्ञ मण्डली की प्रधाना माता तृप्ता जी कक्कड़ मल्का गंज तथा स्वर्गीया माता रामप्यारी जी की प्रिय पुत्री विजय लक्ष्मी एवं अन्य सभी सक्रिय उत्साही देवियाँ संगठन करके इस धर्म-प्रवृत्ति में लगाने के श्रेय की पात्र हैं। प्रभुदेव उनकी सदा उन्नति करें।

प्रकाशन विभाग :
वैदिक भक्ति साधन आश्रम,
आर्य नगर, रोहतक।

विषय—सूची

विषय	पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

॥ ओ३म् ॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्
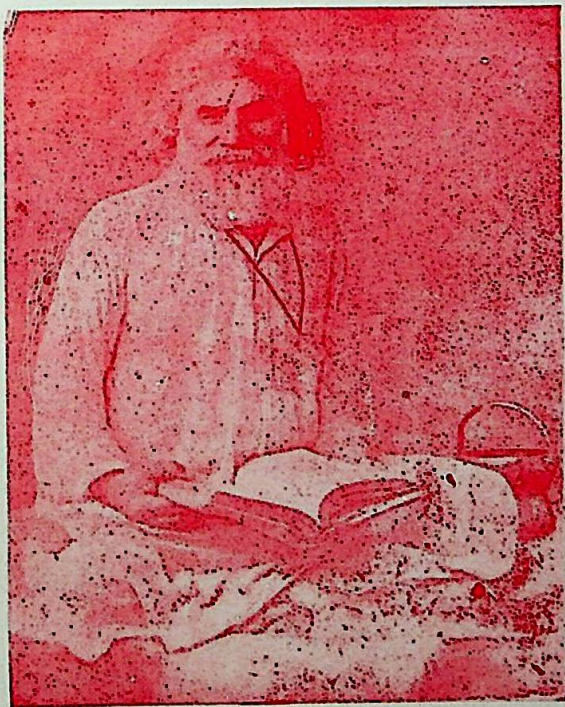
श्री महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज

।। ओ३म् ।।

प्रार्थना

मनुष्य की चार अवस्थाएं

* अन्दर भी सुन्दर बनो *

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति
दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमंज्योतिषां ज्योतिरेकन्तंमे मनः
शिव संकल्पमस्तु ।। यजु० ३४-१ ।।

संग में

हे प्रभु करुणा निधान्, महिमा महान् भगवान् ! कल्याण के स्रोत ओत प्रोत ! मैं हर्ष में और प्रसन्नता से फूला नहीं समाता जब तू अपनी अपार कृपा जीवों के व्यवहार अर्थ सूर्य भगवान को प्रकट करता है और समस्त संसार जागकर सूर्य के प्रकाश में अपनी अपनी कामनाओं को सिद्ध करता है और मैं भी तेरे दिए अनमोल रत्न सूर्यप्रकाश में संसार के प्राणियों में घूमता हूं और जो मान और ज्ञान तेरी दया से मुझे प्राप्त होता

है वह तेरे ही प्रदत्त वेशभूषा और भाषा को सजता और फबता है वह मेरे नस-नस और नाड़ी-२ में उत्साह और जीवन का संचार हो जाता है 'मैं तेरा धन्यवाद करता हूं कि प्रभु ! तू धन्य है !! धन्य है !!! तेरे प्रताप और तेरी बरकत से ही एक अपद को पद प्राप्त हो रहा है।

एकान्त में और फिर जब मैं उसी जाग्रत अवस्था के अन्दर एकांत में तेरे चरण शरण में उपस्थित होता हूं कभी तो मेरा यह मन ऐसे विचित्र विचार सामने ला खड़ा कर देता है कि मुझे कहना पड़ता है कि जो शान और मान मुझे मिल रहा है वह केवल जनता-जनार्दन को धोखा देता है। जिस बात के लिए लोग मेरा सत्कार करते हैं यदि उनको यह कह दिया जावे कि तुम एक ठग, मक्कार और धोखेबाज का आदर करके आस्तिकता की चादर में छिपे हुए नास्तिक का आदर करते हो तो अनुपयुक्त न होगा।

स्वप्न में

प्रभो ! जिस समय तेरी दया से श्रान्त जीवों के विश्राम के लिए सूर्य भगवान अपना मुख तेरी अन्य प्रसुप्त प्रजा के जगाने में मोड़ लेता है और ये सर्व

प्राणी आनन्द की निद्रा सोते हैं तो मैं भी तेरी करुणा-मयी रात्रि में सो जाता हूँ, परन्तु मेरा यह मन इतनी ज्योति का स्वामी है कि सूर्य के प्रकाश को भी मात कर देता है और ऐसा-ऐसा प्रकाश फैला देता है कि जगमग-२ हो जाती है। मेरे शरीर रूपी राज भवन (शाही महल) स्थान के भीतर ही भीतर ऐसी-ऐसी रंगरलियाँ पेश करता है जिन्हें दिन के समय जाग्रत अवस्था में मेरी आत्मा लोगों में विचरते समय अति-अति घृणा की दृष्टि से देखती थी, मेरा शरीर कम्पाय-मान हो जाता है और तनु स्वेदपूर्ण हो जाता है। मेरे नेत्र एक क्षण के लिए उनको देखना गवारा नहीं करते और नीचे ही पड़े रहते हैं, ऊपर उठ ही नहीं सकते। अपनी आस्था लोगों को दिखाते हुए उनसे साधु-साधु और आश्चर्य-२ कहलवा देता था। अब उस जगमग के समय जबकि नितान्त एकान्त है, इन्द्रियां भी साक्षी, नहीं, यह जीव निर्लज्ज होकर अन्धा बनकर ऐसा मोहित हो जाता है और उन क्रीड़ाओं विषयों और रंगरलियों में ऐसा फंस जाता है कि यदि उस समय जाग्रत संसार के लोग मेरी इस क्रीड़ा को देखने का अवसर पा लेवें तो मुझे पादाक्रान्त कर (कुचल) दें

और जीवित भस्मसात् कर दें मेरी वह शान और मान मिट्टी में भस्मीभूत कर दें।

सुषुप्ति काल में

मेरे भगवान ! जब तेरी अनन्त अपार दया से वह समय प्राप्त हो जाता है, जब तू सुषुप्ति काल में मुझे अपनी ही अमृत गोद में लिटा लेता है, जहां मेरे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अर्थात सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर की पहुंच नहीं हो सकती और मुझे जब तेरी आनन्दमयी गोद का वास प्राप्त होता है उस समय आह ! कि तम और महान तम का आवरण मुझ पर इतना आच्छादित हो जाता है कि मैं तेरी गोदी का आनन्द लेते हुए भी तेरे दर्शनों से वंचित रह जाता हूं। और सब कुछ भूल जाता हूं। यहां तक कि जाग्रत संसार में उठकर भी अपनी मूंछों को ताव देता हुआ अपने आप को उज्जवल और कपट का भेष पहनाता हुआ, संसारी लोगों के मान का पात्र बना रहता हूं।

प्रभो ! मेरी तो एक अवस्था ही केवल अच्छी है और वह भी बाहर की। शेष मेरी तीन अवस्थायें जो भीतर की हैं और अति मूल्यवान हैं, वह संसार के एक पतित से पतित व्यक्ति से भी निकृष्ट हैं। इतने गम्भीर

और स्थिर जल के अन्दर मेरे पग कब तक ठहर सकते हैं। नाथ ! मुझे बचाओ ! बचाओ ! मैं होश में कह रहा हूं, मुझे बचाओ। बचाओ। प्रभो ! मुझ डूबते, निहत्थे और निराश्रय को बचाओ ! बचाने का पुण्य लो ! प्राणनाथ ! प्राणनाथ ! प्राणाधार ! अभी बचाओ। अभी बचाओ ! फिर कब बचाओगे, जब प्राणान्त हो गया ? पतित पावन ! मुझे छल और कपट से बचाओ ! मेरे मन की ज्योति को तनिक अपनी ज्योति से जगाओ। जगमगाओ ! संसारी चमक-दमक से हटाओ ! और एक बार अपना दर्शन दिखाओ ! और बस ! तेरी कृपा के बिना न कोई उठा, न उठेगा ! मुझे उठाओ ! अपनाओ ! और बस ?

फरियाद है यह, इमदाद मिले।
मुझे दौरे जमाना ने घेर लिया,
दरमांदा हूं मैं दस्त निगर।
मेरी कश्ती भंवर से लीजिये बचा।
प्रभु लीजिए बचा, प्रभु लीजिए बचा।
नहीं तेरे बिना, मेरा कोई मल्लाह ॥
कर नज़रें करम प्रभु-ओ३म् शम्।

—टेकचन्द (प्रभु आश्रित)

प्रभु आश्रित की तरंग

अनाज्ञाकार नटखट
मन्त्री लगजा बाजीगर

हे. प्रभो ! मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। हर रात्रि सोते समय तेरी प्रार्थना करके इस अपने मन से आग्रह पूर्वक कहता हूं कि ऐ मन ! मैंने तुझे अब प्रभु के समर्पण कर दिया। तुझे अर्पण कर दिया, तुझे दे दिया, तुझें दे दिया, तू अब प्रभु के दरबार में सावधान होकर रह ! प्रभु से मांग 'भक्ति दान' 'ज्ञान का स्नान' और 'प्रकाश का स्थान' आनन्द महान् ...

मन मनुवा, माने नहीं

परन्तु मेरे सोते समय मेरे पास आ जाता है। चाटुता और खुशामद से मुझे रिझानें लगता है। न जाने तू उसे स्वीकार नहीं करता अथवा यह मार्ग से ही भगोड़े बन्दी की तरह भाग आता है। मुझे यह मन नहीं चाहिए। यह दिया हुआ मन अपने पास रख ! इसे बुला ले ! जो मेरा कहना नहीं मानता। मैं इसे अपना

दौरे—कालचक्र। इमदाद—सहायता। दरमांदा-दीन।
दस्तनिग-रयाचक। वजरे करम-दयादृष्टि।

मन्त्री बनाकर क्या करूंगा। एक बार नहीं, दो बार नहीं, प्रतिदिन की यही कार है। मैं चाहता हूँ इस बला से मेरी जान छूटे और मैं तेरे साथ बातें करूं, परन्तु यह हस्तक्षेप करता ही रहता है, न पृथक होता है और न तेरे एकान्त का स्वाद लेने देता है। न जाने इसे कौन सी बात का अभिमान है जो मेरी किंचित भी नहीं सुनता और अपनी ही मन मानी मनवा लेता है और कभी-कभी आप भी रोता है और मुझे भी रुलाता है। यहां तक कि बिचारी आंखों को बेहाल कर देता है। पश्चात्ताप करता है। बहुत गिड़गिड़ाता है। मैं और मेरा मन रोते-रोते ऐसे हो जाते हैं कि मुझे उसकी और उसे मेरी पहचान नहीं रहती। इतनी एकता हो जाती है, उस समय तू ही अल्प सी ढाढस देकर हमारे अश्रु पूछ देता है और मैं फिर निश्चिन्त हो जाता हूं। परन्तु जब रात्रि को मेरा कहनां न मान कर मुझे अपनी चाटुता में फंसा लेता है तो मैं जागकर उसकी करतूतों पर बड़ा शोक करता हूँ और मुझे इससे घृणा आने लगती है।

तेरा प्यारा

यह मैंने जाना है कि निःसन्देह यह तेरा प्रिय है। उपनिषद् यही गाती है कि 'मन' प्रभु का प्यारा है।...

तो—यदि मन तेरा प्यारा है तो क्या मैं ही तुझे कटु लगता हूँ ?

अनाज्ञाकारी मन्त्री

तूने मन मुझे दिया कि वह मेरा मन्त्री बनकर रहे, मेरी आज्ञा माने। जब मैं उसे आज्ञा देता हूं और तू देख रहा है कि वह नहीं मानता तो मुझे यही कहना पड़ता है कि जैसे वह तो तेरे चाचा का पुत्र लगता है और मैं तेरा कुछ भी नहीं लगता !! लगता तो मैं तेरा हूँ, वह तेरा क्या लगता है ? मैं ही तो तेरा पुत्र हूं, यह तो मेरा अनाज्ञाकारी मन्त्री है। मैं तुझे अपनी मूर्खता से. अपने आग्रह और धृष्टता से अपने क्रोध से तुझे कहूँ कि तू नहीं है नहीं है, और मैं तुझसे भाग जाऊं। परन्तु तू तो पिता है, तू मुझे त्यागता ही नहीं, त्याग सकता ही नहीं।

तेरा सखा

लोग कहते हैं "रब बड्डा बेपरवाह, हथों खाली आ, हथों खाली जा"···परन्तु में तो प्रभु ! खालीहाथ नहीं आया और न खाली हाथ जाऊंगा। तेरे संग आया, तेरे संग जाया। तेरे साथ जाऊं और तेरे साथ रहूं··· पिता ! तेरे जगत् में यह मन मुझे खेलने नहीं देता

तेरी खेल को बिगाड़ देता है, अपनी खेल बना देता है और तू हंसता है। स्यात् तू इसे इसलिए तो पसन्द नहीं करता कि यह विनोद करना जानता है। ठठाबाज है, खुशामदी और चाटुकार है। इसे रिझाना आता है और मुझे चाटुता और विनोद नहीं आता। मैं क्यों खुशामद करूं, चाटुता करूं ? किसकी खुशामद करूं ? तेरी ?

तेरा उत्तराधिकारी

तू तो मेरा पिता है। तुझसे कैसे विनोद करूं ? कैसे खुशामद करूं ? मिथ्या चाटुता करूं ? तेरा तो मैं उत्तराधिकारी हूँ। तेरी सम्पत्ति का मालिक हूं फिर मैंने खुशामद करके क्या लेना है और किसकी करू ? मुझसे कोई महान ही नहीं, किसी की सम्पत्ति ही नहीं जो मुझे खुशामद पर कुछ दे देगा। पिता ! मैं रोता भी हूँ और हंसता भी हूँ अपनी सरलता पर। कहलाऊं तो तेरा पुत्र, अमर और अविनाशी ! और फिर वश में न ला सकूं मिट्टी के माधो एक मन को ! और छोटे से एक मन को तेरा तो एक संकेत ही पर्याप्त है घटाने और बढ़ाने में। मैं लगाता हूँ सारी शक्ति फिर भी तिल भर नहीं घटता।

प्रभो ! अब कृपा करो ! मुझे इस बाजीगर नटखट से हटाकर अपनी चरण-शरण में ले लो ! नहीं तो इसे समझा दो कि मेरा आज्ञाकारी मन्त्री बन कर रहे, न आप दुःखी होवें न मुझे जन्म-जन्मान्तर के धक्के दिलाए··· ।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

—०—

असमर्थ का आतिथ्य सत्कार, दाता के दरबार में दक्षिणा ॥

आवाहन

प्रभु ! मुझे तो बड़ी लालसा है, तुझे कहां बुलाऊं ? कहां बिठाऊं ? मेरी तो हृदय-नगरी ही सूनी है और इतनी मलिन है कि मुझे स्वयं ही तेरा आतिथ्य सत्कार करने में लज्जा आती है और फिर असमर्थ इतना हूं कि तेरे चरणों में भेंट करने के लिए मेरे पास कौड़ी नहीं, आसन कहां से लाऊं ? चरण कैसे धुलाऊं? आरती कैसे उतारूं ? भोग क्या लगाऊं ? कंगाल होकर महाराजों के अधिपति को मेहमान बना के अतिथि सत्कार की चाह ! यह क्या धुन समाई है !

बारम्बार विचारता है कि झाड़ू से तेरे पथ प्रयाण के स्थान को साफ करूं। न तो मेरे पास झाड़ू खरीद करने का धन है और न सम्राटों के कोष ऐसे झाड़ू के खरीद करने में पर्याप्त हो सकते हैं। तेरे जैसे पवित्र और स्वयं प्रकाशमान के लिए स्थान भी तो वैसा ही स्वच्छ हो और ऐसी स्वच्छता के लिए झाड़ू भी तो विलक्षण प्रकार का हो, जो कहीं से नहीं मिल सकता बिना तेरी अपनी दुकान के।

मन मन्दिर के महादेव की पूजा

भगवन्! कृपा करो! मैं तेरी दात से ही तेरी सेवा करता हूं। मेरा अपना कुछ भी नहीं। स्वीकार करो कृपानिधे! स्वीकार करो!! मैं इस हृदय को मलिन और सूनी नगरी में नम्रता का झाड़ू लगाता हूं और तुझे बुलाता हूँ, आओ! आओ! मेरे प्रभु! आओ! मेरा यही श्रद्धा का आसन ग्रहण करो! मेरे पास और कोई इससे अधिक मूल्यवान आसन नहीं! मेरे अश्रु ही तेरे चरण धोने को है और जल मुझे इससे अच्छा नहीं लगता प्रेम के पुष्प ही ऊपर चढ़ाता हूँ और चढ़ावा मुझे नहीं भाता। विश्वास की थाली में ज्ञान का ही धूप दीप जला कर तेरी आरती उतारता हूं। व्याकुलता की दक्षिणा करके तेरे चरणों में

शीश झुकाता हूं। प्रभु आशीर्वाद दो ! आशीर्वाद दो !! तुच्छ भक्ति भजन तेरे भोग भोजन निमित्त भेंट करता हूं। दया दृष्टि से स्वीकार करो ! मुझ कंगले को निहाल करो। निर्धन तुच्छ भेंट है। तेरी दी हुई अपनी प्रदत्त दात तेरे चरणों में भेंट करता हूं।

दक्षिणा

मेरी 'मैं' के बिना इसमें कुछ भी नहीं, इसे भी दक्षिणा में प्रस्तुत करता हूं, अब न्यूनाधिक के आप ही स्वामी हो।

सपुर्दम बतो मालाए खेशरा।
तू दानी हिसाबो कमो बेशरा ।।१

निर्धन की सम्पत्ति

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव देव ।।२

---

१ मैंने अपना सर्वस्व तेरे अर्पण कर दिया है, तू ही अब न्यून अधिक का स्वामी है।

२ तू ही मेरी माता, पिता, बन्धु और सखा है। तू मेरा धन दौलत और सर्वस्व है।

आहा ! मेरे प्रभु ! धन्य हो ! धन्य हो ! मैं तो कोटानुकोट तेरा धन्यवाद गाता हूं। कभी भी तेरी वाणी नहीं रुकती, मन नहीं थमता और कहने लग जाता है, धन्य हो प्रभु। तूने मुझे निर्धन बनाया। अनपढ़ ही रखा, बालकपन में ही अनाथ कर दिया। निर्बल और निराश्रय निःसहाय छोड़ दिया, बे वसीला कोई ओट, किसी की तंग (सहायता) और मान न दिखाई।

जब तेरे दरबार में कहता हूं, 'मैं निर्धन हूं' तो मुझे इस बात की प्रसन्नता होने लगती है कि मैं सत्य कह रहा हूँ। तेरे समक्ष में बनावट से नहीं कह रहा। मैं अपनी न्यूनता के ऊपर विचार करके योग्य बन जाता हूं। मेरे में दीनता और नम्रता अंकुरित हो आती है मुझे तेरी प्रजा में बेकस, निर्धन, दीन हीन और अनाथों के लिए मन में दर्द और उनकी सेवा के लिए अति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।□ मुझे वे भाई ही प्रतीत होने लग जाते हैं यह और बात है कि मैं

□Few, save the poor, feel for the poor. (I.G. London) अर्थात् निर्धन के अतिरिक्त बिरला ही निर्धन का दुःख अनुभव करता है।

उनकी सेवा न कर सकूं कि तू मुझे अभी अधिकारी नहीं समझता । मुझे भार उठाने के योग्य नहीं देखता परन्तु फिर भी मेरे मन में तो यही लालसा बनी रहती है, कभी वह दिन भी आ जावेगा जब तू अपनी अपार कृपा से मुझे ऐसी सामर्थ्य देकर इस शुभ सेवा का भार मेरे कन्धों के ऊपर रख देगा और मैं अपना अहोभाग्य समझूंगा कि मैं अब मनुष्य बना हूं ।

प्रभु ! यदि मैं धनी होता तो मैं तेरे स्मरण से भी वञ्चित रहता । मुझे तेरे उपकार धन के अभिमान में विस्मृत हो जाते···और मैं पाप को अपना बाप (पिता) समझता रहता । मैं तेरे दरबार में अपने आपको कभी निर्धन न कह सकता । मुझे ऐसा कहते हुए लज्जा आती और मुझे अभिमान उत्पन्न होता । धन्यवाद ! तूने मुझे इस पाप से बचाया । मेरी दृष्टि सर्वदा आकाश की ओर रहती, मुझे किसी मोहताज का दर्द महसूस (अनुभव) भी न होता । मेरे अनुभव की शक्ति भी मारी जाती । भला हो तेरा प्रभु ! भला हो ! मुझे सचेत रखा । मैं नमस्कार को ही तेरे लिए भेंट बनाये रखता हूं ।

२) तेरा बारम्बार धन्यवाद करता हूं कि मैं

अनपढ़ रहा। यदि पढ़ेलू हो जाता तो बहुत सम्भव है कि मैं तेरे अस्तित्व से भी इन्कार कर देता। मुनकिर नकीर (नास्तिक) बन जाता। अपने तर्क और युक्तियों से सैकड़ों आदमियों को विचलित करके तेरा विद्रोही बना देता है, स्वयं डूबता, अन्यों को डुबाता, महापापी होकर बड़े भारी पाप करने वाला बन जाता और जन्म-जन्मान्तर तेरा पल्ला न छोड़ता। प्रभु ! तूने मुझे बचाया। मैं अनपढ़ हूं □ तभी मैं तुझमें श्रद्धा रखता हूं। तेरी विचित्र शक्तियों को जहां पर तार्किकों का तर्क हार जाता है, तेरे गुप्त भेदों में जहां बुद्धि चकित हो जाती है, तेरी अलौकिक क्रीड़ाओं पर जहां मन की संकल्प विकल्प शक्ति और दौड़ बन्द हो जाती है। देख और सुनकर मुझ में अन्धविश्वास और अगाध श्रद्धा अपने आप पैदा हो जाती है। लोग उसे अन्ध श्रद्धा अन्ध विश्वास का लाछन लगाएं, भले लगाये मुझे उनकी चिन्ता नहीं होती अपितु प्रसन्नता होती है कि मैं तुझ अपने प्रभु

□ To be Proud of learning is the greatest ignorance. (Jeremy Taylor) विद्या का अभिमान सबसे बड़ा अज्ञान है। The highest reach of human Science is the scientific recognition of human ignorance. (Sir Wm Hamilton) सबसे ऊंचा विज्ञान यही है कि मनुष्य अनभिज्ञ है।

की महिमा महान् को सुन-सुन कर फूला नहीं समाता। मेरे अन्दर उत्साह का रक्त उछलने लगता है। मैं तेरे दरबार में उपस्थित होकर यद्यपि तेरे दर्शन इन नेत्रों से साक्षात् नहीं करता कि मैं अज्ञानवश अन्धा ही हूँ परन्तु फिर भी तेरी दया से तेरे दर का याचक कब खाली जा सकता है। तू तो महान् दाता है। दानियों का महान दानी है तेरी उज्ज्वल, प्रकाशमान तेज की रश्मियाँ अति वेग के साथ मेरे कम्पायमान, सर्द और मुरझाये हृदय के ऊपर पड़ कर उसे गरम और तरोताजा कर देती हैं, तो मैं मन ही मन कह उठता हूं कि आहा! यह हैं रंग मेरे प्रभु के! मुझे विश्वास और निश्चय हो जाता है कि प्रभु ही मुझे सरदी (शीत) से बचा रहे हैं मेरी मुरझाहट को अपनी तीव्र ज्वाला से भस्म करके नवीन जीवन प्रदान कर रहे हैं। मुझ अन्धे के लिए, अन्ध श्रद्धालु और अन्ध विश्वासी अज्ञानी के लिए तो यही दर्शन और साक्षात् से कम नहीं। तेरी बड़ी दया है। जिस प्रकार अन्धा आदमी सूर्य भगवान की धूप में बैठकर अपने ठण्डे शरीर को तापता है और सूर्य भगवान को न देख सकता हुआ भी निश्चय से कह देता है कि वह सामने सूर्य चढ़ा है। उसकी गरमी से गरम हो जाता है। इसी तरह मैं भी

अनुभव करने लगता है ।

३) प्रभो ! तेरी शान महान है । मैं जब भी किसी अनाथ, निराश्रय को देखता हूं, मेरे नेत्रों में जल भर आता है । मेरा मन तिलमिला उठता है । मुझे अपनी पुरातन अवस्था की सहसा स्मृति होनें लगती है और धन्यवाद करने लगता हूं और तेरा धन्यवाद गाने लग जाता हूं कि तेरी कितनी बड़ी दया मुझ दीन-हीन पर हुई है और तू कितनी दया कर रहा है, कहां से कहां तक तूनें मुझे पहुँचा दिया ।

इस समय का गर्व और बड़ापन का नाज चकना-चूर हो जाता है । अनाथपन की आपत्तियों और तेरी गुप्त रक्षा का दृश्य मेरे सामने आ जाता है और अपने मन को समझाने लग जाता हूं कि यह आपत्ति अनाथ काल में कभी जंगल में, लकड़ियां (ईंधन) अपनें कनिष्ठ भ्राता के साथ चुननें और गट्ठा बांध उठवानें वाले की प्रतीक्षा में खड़े रहने, कभी स्कूल में पढ़ते समय ग्रीष्म-ऋतु में दोपहर की निद्रा से लोप

☐ Where ignorance is bliss it is folly to be wise.

जहां तक बेसमझी सुखद हो वहां बुद्धिमता दिखाना मूर्खता है ।

जागते और तू चनें बेचने के लिए खोमचा उठाता बाजार में चक्कर लगाने और आना दो आना कमाकर फिर स्कूल में पढ़ने चला जाने, कभी दूसरों के घड़े जल के भर के रोटी खाकर अपनी शिक्षा पाने, कभी स्कूल सहवासियों की कृपा से उनके लंगर से रोटी पाकर बिना घी दूध के मुख देखे अपना जीवन शिक्षा काल में निर्वाह करने, दीपक जलाने के लिए धन के अभाव से दूसरों के दीपक पर उपालम्भ के भय से न पढ़नें और सो ही जानें का दृश्य □ और अब का दृश्य और दर्मियावी आदर सत्कार और शान-वान की

□ 1. Poverty is the sixth sense (German Proverb) गरीबी छठी ज्ञानेन्द्रिय है।

2. He travels safe and not unpleasantly, who is guarded by poverty and guided by love. (Sir P. Sideny.)

गरीबी और प्रेम से सुभूषित यात्री सुरक्षिता और निर्भयता से यात्रा सम्पन्न करता है।

3. He can never speak well, who knows not how to hold his place (Plutarch)

जो अपनी परिस्थिति नहीं जानता, वह कभी यथार्थ नहीं कह सकता।

नौकरी और सैकड़ों आदमियों को सलामी की हालत का दृश्य जब दृष्टि में आता है तो अनायास प्रेम के आश्रुओं से रो देता हूं ···। कि प्रभु ! तू ने कितना बड़ा दया का सागर मुझ पर बहा दिया। मन मानने लग जाता है कि अवश्य इतनी कठिन आपत्तियां किसी महान पाप का ही फल है। पाप से भयभीत हो जाता है और प्रभु बचाये रखते हैं। यही मेरा बड़ा सौभाग्य और प्रसन्नता है कि इस प्रकार मुझे प्रभु पाप-ताप से बचाये रखें और मेरा मन प्रभु के आधीन रहे।

—०—

मौन का महत्व

सचमुच मौन बड़ी भारी बरकत हैं, मानो तो ईश्वर की दात है।

१—मौन न केवल सत्य की रक्षा करता है, अपितु

१—क्रोध का भी शमन करता है।

३—सहन शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि बड़ी से बड़ी व्याधि और उपाधि तथा उपद्रव का मुकाबला अति सुगम हो जाता है, जिसे मैं 'प्रभु का फजल' के नाम से पुकारता हूँ।

४—जीवन तो एक धनी से धनी स्वभाव का भी तप का बन जाता है। अपने आप सेवक का कार्य प्रसन्नता और लग्न से करनें लग जाता है।

५—दीर्घ मौनव्रत में जो निरीक्षण अपनें बुद्धि और मन का होता है। वह और किसी प्रकार नहीं हो सकता। आत्मा को अनेक प्रकार के अनुभव हुआ करते हैं जिसे वह साक्षात् प्रमाण का स्थान देकर अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रखता। दूसरे को चाहे वह तर्क और युक्ति से वर्णन न कर सके परन्तु उसकी अपनी आत्मा बिना किसी तर्क वितर्क तथा संशय के बाकी रहनें के संतुष्ट हो जाती है।

६—मानव को अपनी यथार्थ वास्तविक स्थिति का मौनव्रत में ज्ञान होता है कि वह वास्तव में क्या है और कितने धोखे में लोगों की दृष्टि में ऊंचा अथवा नीचा समझा जाता है।

७—अपनें चरित्र की उन्नति का साधन—मौन ही में पश्चात्ताप और प्रायश्चित से ही हुआ करता है अथवा हो सकता है और उन्नति तो जितनी चाहे, इसी मौन में करने का उसे पर्याप्त अवसर है ही। अपनी जांच करने में सारे जीवन का मानो

जीवन चरित्र अपनी आंखों के सामने अक्षरशः देख और लिख रहा होता है।

८—इससे व्रती की स्मृति बढ़ती है।

९—पापों का भार हटाने–और उसका श्रेष्ठ प्रतिकार ढूंढ़ने में उसे तीव्र और उत्कट जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

१०—मौन–ईश्वर का विश्वास बढ़ाता है और भय से हटाता है।

११—सरलता का मूल कारण है।

१२—कुचेष्टाओं–कुसंस्कारों, दुर्व्यसनों, दुर्वासनाओं और दुर्गुणों की परीक्षा का यही मौन ही औषध है।

१३—उनको दबाने अथवा उनके बीज नाश करने के लिए एक यही उपाय है।

१४—प्रभु की विचित्र लीलाओं को अनेक रूपों में देखने और मान करने का इससे उत्तम और कोई साधन नहीं।

१५—भगवान का साक्षात् करना सगुण रूप में तो सहज और सुगम हो जाता है, निर्गुण रूप के लिए निर्बल इच्छा भी सबल हो जाती है, निराशा आशा में,

नास्तिकता आस्तिकता में परिवर्तित हो जाती है।

वाणी सब इन्द्रियों में प्रधान इन्द्रिय मानी गई है। कर्मेन्द्रियों में भी इसके बिना मृत्यु है। ज्ञानेन्द्रियों में तो गुरु का पद रखती है और कर्मेन्द्रियों में माता का।

१६—गुरु नानक देव जी कहते हैं, 'कर्मखण्ड की वाणी जोर" अथवा यों समझो, ब्रह्म, विष्णु, महेश यही है। इसी लिए इसके संयम से दूसरी इन्द्रियों का संयम अपने आप हो जाता है अतः मौन ही वाणी के संयम का सबसे बड़ा उत्तम साधन है। मौन आलसी नहीं बनाता अपितु पुरुषार्थ की कुञ्जी है।

१७—मौन ज्ञान को विस्तृत करता है।

१८—वाणी ही मन की द्विभाषी है जब द्विभाषी मौन है तो मन कहां चक्कर लगायेगा। अन्ततः थक कर वह भी मौन हो जायेगा।

आत्मदर्शी बनने का विद्यालय

मन की चुप्पी अथवा निश्चेष्टता ही वास्तविक मौन है और मौनव्रत का तात्पर्य भी इसी के लिए ही होता है। जब मन चुप हो जाए तों आत्मा को शुद्ध पवित्र दर्पण में अपना स्वरूप भासने के अतिरिक्त और कोई चीज नजर नहीं आवेगी वह अपने स्वरूप में

स्थित हो जाता है, इस लिए वह आत्मदर्शी कहलाता है।

चश्म बन्दो गोश बन्दो लब बिबन्द।
गर न बीनी सरे हक़ बरमन बिखन्द॥*

मौन क्या है ?

मौन आत्मदर्शी बनने का एक विद्यालय है। जो पाठशाला में प्रविष्ट होगा उसे विद्यार्थी का सा जीवन व्यतीत करना आवश्यक होगा और समय-समय के ऊपर प्रभु की ओर से उनकी परीक्षाएं इम्तिहान और आजमाइशें भी हुआ करेंगी। मन तो होगा विद्यार्थी और आत्मा उसका अध्यापक। बुद्धि रूपी डण्डा आत्मा के हाथ में हर समय रहेगा जिससे मन को दण्ड का भय रहेगा। मन को सिधाना सिखाना, पढ़ाना भी कोई खाला जी का घर नहीं।

अनाज्ञाकारी दुष्ट

यह तो देव है। देव-देवता भी होता है और जिन, शैतान भी। मुसलमानों में जो उक्ति है कि

---

* आँख बन्द करो, कान बन्द करो, जबान बन्द करो फिर अगर परमात्मा का दर्शन न हो तो मेरा उपहास करना।

सर्वेश्वर प्रभु नें जब हजरत आदम (मनुष्य) को बनाया तो सब देवों (फरिश्तों) को आज्ञा दी कि इसे प्रणाम करो। सबने प्रणाम किया, किन्तु शैतान ने न किया, इन्कार कर दिया तो वह लईन (Condemned, out caste अछूत) बन गया। शैतान की उत्पत्ति अग्नि से है। उसनें मिट्टी के बनाए मानव को प्रणाम न किया। यह उक्ति मेरे विचार में ऐसी प्रतीत होती है कि 'फरिश्ता' शब्द अनुवाद है 'देव' अथवा 'देवता' शब्द का। मनुष्य के शरीर में जितनी इन्द्रियां हैं उन को वैदिक परिभाषा में देव और देवता कहा गया है। मन सब से बड़ी इन्द्रिय और देवता है। समझो कि आत्मा हज़रत आदम हैं। इन्द्रियां 'देवता' फरिश्ता हैं। सब इन्द्रियों नें जीवात्मा को प्रणाम कर दिया है अथवा प्रति-दिनकरती हैं। रात्रि को सब की सब सो जाती हैं। जिस प्रकार नमन (प्रणाम) में मनुष्य सुमबकुम (निश्चेष्ट) हो जाता है। ऐसे ही निद्रा में इन्द्रियां। परन्तु मन सोता ही नहीं, यह अनाज्ञाकारी ही बना रहता है। इसनें जीवात्मा को प्रणाम न किया, इसलिए इसे शैतान (दुष्ट) कहा गया और है भी ऐसा ही। यह कभी आत्मा के आधीन नहीं होता। जब हो जावे तो आत्मा को फिर अपने स्वरूप के दर्शन भी हो जावें। यही

विचलित करता रहा है और यही अग्नि के तत्व से (तेज से) बना हुआ है जिसकी उत्पत्ति इसलामी भाई आतिश (अग्नि) से कहते हैं वरन् और कोई दुष्ट देव (शैतान) नहीं। यही भलामानस ही शैतान है। इसे संवारने के लिए सब जप, तप, तितिक्षा, उपवास व्रत और साधनायें और नाना प्रकार की कठिनाईयाँ सहनी पड़ती हैं।

'समुद्र, वायु, अग्नि का मन से मुकाबला'

संसार में जो रचनायें प्रतीत होती हैं। वह तीन प्रकार की हैं–

एक रचना तो प्रभु की अपनी ही रची है दूसरी मनुष्य कृत और तीसरी पशु, पक्षी जन्तुओं की। पशुओं की रचना तो स्वाभाविक रचना है। मनुष्यों ने जो रचनायें की है, वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं।

घोड़ा गाड़ी से मोटर रेल की चाल बहुत तीव्र है, और इससे वायुयान, हवाई जहाज और वायुयान से विद्युत तार तीव्र है। परन्तु प्रभु की जो रचना है वह अपूर्व और अनुपम है।

वायु जैसा वेगवान कोई वाहन (सवारी) नहीं, सूर्य प्रकाश की रश्मि जैसी किसी फानूस की रश्मि

नहीं मगर विद्युत तार (Telegraph) से भी अधिक वेगवान् प्रकाश है। समुद्र जैसा गम्भीर, गहरा और अथाह कोई पदार्थ नहीं, पर्वत जैसी ऊंचाई और सूर्य जैसी सुदूर की मंजिल कोई और नहीं परन्तु इनसे भी बढ़कर मन वायु से अधिक वेगवान्, क्षण में सूर्य तक की दूरी को पहुंच जाने वाला, समुद्र से अधिक गहरा जिसका अन्त कोई न पा सका। सूर्य के प्रकाश से भी तीव्र किरणों वाला अन्धेरे में बिना किसी कृत्रिम अथवा प्राकृतिक प्रकाश के अपने आप जगमगाने वाला यही मन है। बिना तार के पल में सूचना देने वाला यही मन है। परमेश्वर की रचना में कोई वस्तु इस मन की अपेक्षा नहीं कर सकती। इसलिए स्वयं भगवान् वेद में इस मन के वेग का प्रमाण है :—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनदेवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति

यजु० ४०—४ ॥

इसका सदा प्रभु से ही मुकाबला रहता है। प्रभु ने जो रचना की है वह बिना किसी दूसरे की सहायता के बिना किसी यन्त्र के अपने ज्ञान और सामर्थ्य से की है। तनिक इसका वजन तोलो, रात्रि के स्वप्न

समय यह मन हर प्रकार की रचना बिना किसी कारण अथवा यन्त्र और सहायता के रच देता है। अन्धेरे में प्रकाश, सूर्यं, चन्द्र, नक्षत्र, महलमाड़ी, बाटिकायें, नगर और देश बसा देता है। अल्प से स्थान में, छोटे शरीर में कितने बड़े पर्वत खड़े कर देता है। मीलों की चौड़ाई वाले नद बहा दिखाता है, विशाल समुद्र और उस पर यान (जहाज) और यान में सहस्रों यात्री लाद कर एक दम दिखा देता है। केवल अपने ज्ञान और सामर्थ्य से। जिस मानव को चित्र बनाना नहीं आता वह किस कारीगरी की इमारतें ताजमहल जैसे रोजा और कुतुब साहिब का स्तम्भ भी ठीक वैसा ही अन्दर खड़ा कर देता है। प्रभु ने जो सृष्टि अमैथुनी युवा मानव आदिम सृष्टि में उत्पन्न किये, यह मन भी अन्दर ही अन्दर सब प्रकार के मनुष्य बिना माता-पिता के उपस्थित दिखा देता है। बच्चे से वृद्ध तक, मूर्ख से विद्वान तक, रंक से राजा तक के प्रतीत होने लग जाते हैं।

—०—

महासागर की पुलबन्दी

जब भला ऐसे मन को यदि कोई बांधना चाहे

तो ऊट-पटांग से ही अपने आप हाथ आ जायेगा ? साधारण नदी पर सेतु (पुल) बनाने के लिए करोड़ों रुपये और कई वर्ष व्यय करने पड़ते हैं और सहस्रों मनुष्यों को अहर्निश परिश्रम करना पड़ता है और मन समुद्र से अधिक गहरा, वायु से अधिक वेगवान है, अग्नि से अधिक गरम, उसके वेग को रोकने अथवा उस पर सेतु बनाने अथवा बन्ध बनाने के लिए कितनी राशि की आवश्यकता होनी चाहिए यही नहीं कि मन इन प्राकृतिक रचनाओं से केवल गहरा और तीव्र है, अपितु जो कार्य वे करते हैं वह यही करता दिखाई देता है। वायु ने अपने तीव्र झोकों से सहस्रों वृक्षों को समूल उखेड़ दिया तो मन ने भी करोड़ों मनुष्यों को मूल हिलाकर दूर-दूर फेंक दिया। जल ने अपनी बाढ़ से ग्रामों और नगरों को डूबो दिया तो इस भलामानस मन ने भी लाखों जानों को नष्ट करके डुबो दिया।

अग्नि ने यदि अपनी प्रचण्डता से भवनों को भस्मीभूत कर दिया तो इसने भी अपनी चिन्ता की आग से जीवित ही जला दिया।

जिस समुद्र में डुबकी लगाने से मोती जवाहर हाथ आते हैं मानव भलामानस हो जाता है तो इसमें

डुबकी लगानें वाले भी राजाओं, लाल जवाहर के स्वामी सम्राटों, शाहों को अपनें चरणों में बैठा देखते हैं।

वास और निर्वास, स्वर्ग और नरक, जय-पराजय, राव से रंक और भिक्षुक से राव बनाना इसका दायां बायां खेल है जिसनें इस मन को साधारण समझा, वह स्वयं साधारण से अधिक स्थिति का न बना, न बन सकेगा और जिसनें इस मन की चौकीदारी स्वीकार कर ली, वह ही मन का स्वामी, मन ईश बन गया (मनुष्य बन गया)।

अति बलवान् देव

(औखटी घाटी)—(पूर्ण प्रकाशक)

परमात्मा	मन	आत्मा
आत्मा	मन	शरीर

मानसं प्राणव नामे सर्वं कर्मैव कारणम् ।
मनानुरूपं वाक्यं च वाक्येन प्रस्फुटं मनः ।।

मन एक ऐसा शक्तिमान् देव है कि जिसके बिना न तो शरीर और न इन्द्रियां संसार का कोई कार्य कर सकती हैं और न ही जीवात्मा को किसी पदार्थ का ज्ञान हो सकता है। जिस प्रकार यह मन,

शरीर और आत्मा के मध्यमें है, उसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा के मध्य में भी यही एक बाधा है । गीता में कहा है ।

मनएव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है ।

इस मन के तथ्य को जाने बिना जीवात्मा की परमात्मा तक पहुंच नहीं हो सकती और भलामानस ॠ ईश्वर से मिलाप करने वाले की इच्छा रखने वाले के लिए इसके मार्ग में एक बड़ी भित्ति (दीवार) अज्ञान की खड़ी कर दी है । और इस पर एक अपना द्वारपाल अहंकार संज्ञक बिठा दिया है जो २४ घण्टे सावधान रहता है और क्षण में भित्ति के हर स्थान पर पहुँच जाता है और उसके हर एक हाथ में दो-दो बाण दे दिये हैं । एक हाथ में दो आग्नेय अस्त्र और दूसरे हाथ में दो जलीय अस्त्र पकड़ा दिये हैं और स्थान ऐसी गुफा का है कि संसार के ज्योतिर्मय प्रकाश करने वालों का कोई प्रकाश वहां तक नहीं पहुँच सकता और यहां चढ़ाई पर्वत के समान कठिन है ।

जो जिज्ञासु, साधक अथवा सालिक बड़ी वीरता से पर्वत का मार्ग चढ़ भी जाता है तो आगे अंधेरा है,

वहां पर गुफा को पहुंचता है। जो इसकी भी परवाह न करता हुआ ऐसी कठिन लंघनीय घाटी को लांघ जाता है तो सामने उसे बाणों का प्रकाश और चमक दूर से दिखायी देती है। वह हर्षित होता हुआ उस प्रकाश को प्राकृतिक प्रकाश समझता हुआ त्वरता से पग उठाए भागता जाता है। ज्यों ही समीप पहुंचता है, आंखें चुन्ध्या जाती हैं, और वह द्वारपाल उसे अपने बाणों से विनष्ट कर देता है।

जलीय बाण तो लोभ और मोह के हैं। उस मार्ग से जाता है तो वे उसे अपने में लीन कर लेते हैं और यदि आग्नेय बाणों के मार्ग से जाता है तो वह काम और क्रोध जो संज्ञक बाण हैं, वे उसे तत्काल भस्म कर देते हैं। इसी तरह से प्रभु मिलाप भयानक हो जाता है। परन्तु जो आरम्भ से ही इस मार्ग का परिचय किसी पूर्ण गुरु (पथ-प्रदर्शक) से ले लेता है और अपने आप को इस युद्ध के लिए पूरे बल के साथ तैयार कर लेता है। घर में ही अपनी परीक्षा कर लेता है और अपने साथ उसके मुकाबिले के यन्त्रों से उद्यत होकर जिरह बख्तर (कवच) पहन लेता है और मंजिल तय करके बजाए आगे (सामने) जाने के पीछे से जाकर अहंकार नाम वाले द्वारपाल को मार देता

है तो उसके बाण स्वयं हाथ से छूटकर निष्फल पड़ जाते हैं। फिर वह पथिक जब द्वारपाल को मार देता है तो अज्ञान की भित्ति का तोड़ना उसके लिए सुगम हो जाता है। जब अज्ञान की भित्ति का भंग हो गया तो फिर प्रभु दर्शन में तो विलम्ब ही क्या रहता है। मन तो अपने आप बेदाम गुलाम (निःशुल्क सेवक) बन जाता है। कवि ने कहा है :–

१. मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
पारब्रह्म को पाइये, मन ही के प्रतीत॥

२. तुलसी काया खेत है, मनसा भयो किसान।
पाप पुण्य दो बीज है बोवे सो काटे निदान॥

३. मन मोटा मन पावा मन पानी मन लाए।
मन के जैसे उपजे तैसी ही हो जाए॥ (कबीर)

Sublime is the dominion of the mind over the body that for a time can make flesh and nerve impregnable and string the sinews like steel so that the weak become so mighty.

(मन का शरीर पर इतना प्रभाव पड़ता है कि किसी समय शरीर की पेशियाँ और तन्तु फौलाद की भांति सख्त हो जाती हैं जिससे एक कमजोर मनुष्य भी महा बलवान् हो जाता है।)

मौन ही साक्षात् का साधन अपितु अन्तिम साधन है

चश्म बन्दो गोश बन्दो लब बिबन्द ।
गर न बीनी सरेहक्क बरमन बिखंद ।।□

"मौन" चुप्पी अथवा खामोशी को कहते हैं ।

"खामोशी" 'माने दारद कि दर गुफतन नमे आयद'—अर्थात् मौन के अन्दर वह रहस्य है जिसे वाणी वर्णन कर ही नहीं सकती । यह निर्विवाद बात है कि जब वाणी बन्द हो तभी उसे खामोशी अथवा मौन कह सकते हैं । जब बोलती है वह मौन है ही नहीं । इसलिए पहले साधारणतः तो यही सिद्ध है कि न बोलने को ही खामोशी (मौन) कहते हैं ।

यदि जरा इससे गूढ़ दृष्टि से विचार किया जाए तो पता लगेगा कि मौनव्रत इसे नहीं कहते, अपितु इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से चुप कराने का नाम "मौन" है ।

□अर्थात् आंख बन्द करो, कान बन्द करो, और जबान बन्द करो फिर अगर प्रभु के दर्शन न हों तो मेरा उपहास करना ।

जिस वाणी से मानव नाना प्रकार के शुभाशुभ वाक् साधारण स्थिति में रह कर प्रयोग करता है, मिथ्या निन्दा, वाद-विवाद आदि से वाणी के पापों को बढ़ाता है। हंसी तथा विनोद से अपना मन प्रसन्न करता है, उस वाणी को चुप करा देने में इन पापों से बच जाता है। जिन श्रोतों से बड़े-बड़े राग रंग सुनने के लिए व्याकुल रहता है मौनव्रत कराने में श्रोतों की इच्छा होते हुए भी उसे रोक रखता है और शुभाशुभ शब्दों के सुनने से बचा रहता है।

साधारण प्राकृतिक ध्वनियां जो आकाश में नाना जीव-जन्तुओं की फैली रहती हैं, उनको इस प्रकार सुनता है जैसे कोई अन्धा मार्ग तय करता हुआ भी और दण्ड को धकधक करता हुआ भी उसकी ध्वनि से बेपरवाह सा रहता है, उसकी बुद्धि के ऊपर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसे ही उन ध्वनियों को सुनते हुए भी प्रभाव से बचा रहता है क्योंकि उसे समझ ही नहीं। जिन आंखों से कौतुक क्रीड़ा, अभिनय, सिनेमा देखने अथवा रूप में तृप्त होने की अभिलाषा रहती है, वह प्राप्त न कर सकने से उस दोष से बचा जाता है। जिस जननेन्द्रिय से काम की चेष्टा विषय विलास भोग द्वारा अपने स्थिर कोष का नाश करता रहता है और जिससे वह अपने मौलिक

धर्म को भी खो बैठता है, उसे भी मौनव्रत में अपने विषय भोग से बचाव हो जाता है।

हाथ से न वह चोरी करता है, न ही किसी को पीड़ा पहुंचाता है।

ऐसे मौन से मनुष्य क्रियात्मक रूप में पापों से बचकर अपना जीवन अच्छा समझता है परन्तु वास्तविक मौन इसे भी नहीं कह सकते।

श्रेष्ठतम मौन

एक बलवान् की किसी दीन को ताड़ना, तर्जना से अथवा छोटे बालक को मार प्यार से चुप करा देना कोई वीरता अथवा गुण नहीं। वीरता तो तब है जब किसी अपने से बलवान् को चुप करा दिखावे। इतना ही नहीं अपितु बलवान् को साहस ही न हो कि वह आक्रमण कर सके अथवा आक्रमण करने का विचार करने पावे।

अर्थात् मन को जो सबसे वेगवान बलवान् माना गया है, उसे किसी प्रकार चुप करा देने का नाम मौन है और इससे भी श्रेष्ठतम अवस्था उस मौन की है जिसमें मन कोई विचार उत्पन्न कर सकने का सामर्थ्य अथवा साहस न करे और नितान्त शान्त सो जावे।

सावधान

यह भी नहीं समझना चाहिए कि जो इन्द्रियों को विषयों से रोकने के लिए मौन कराना है, वह मौन नहीं है, या व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा मौन बाह्य मौन कहलाता है। जब तक बाह्य की सिद्धि नहीं होती, आंतरिक तो असम्भव ही है।

उदाहरण

पीतल अथवा लोहे की यदि हम चमक देखना चाहें और अपना मुख उसमें देखना चाहें तो पहले उसे बाहर से ही रगड़ना पड़ेगा। बाहर की रगड़ से ऊपर का जंगार अथवा आवरण दूर हो जाएगा, तो चमक स्वयं निकल आयेगी।

कभी कोई व्यक्ति उस नदी में बांध नहीं लगा सकता जिसमै बाढ़ आ रही हो। बुद्धिमान मनुष्य तो प्रथम उसकी बाढ़ को ही रोकने के बाहर बांध लगाता है ताकि वह बाढ़ अति होकर क्षति न पहुंचा सके। जब उसे रोक लेता है तो फिर नदी को सुखाना अथवा बन्द करना तो प्रकृति के प्रतिकूल है, हां उसको इस प्रकार बन्द करता है कि उसका प्रवाह दूसरी ओर फेर देता है।

(१) ऐसे मन के ऊपर जो इन्द्रियों के विषय का संस्कार चढ़ा है, उन इन्द्रियों को शुद्ध रखने के लिए जो साधन किया जाता है उससे मन का आवरण दूर हो जाता है। मनुष्य को अपनी स्थिति का साक्षात मन से अनुभव होने लगता है।

(२) प्रकारान्तर से इन्द्रियों के विषयों को जो मन की बाहरी बाढ़ अथवा तरंगें हैं, रोक देने से जगत में विलीन होने से बच जाता है।

(३) और फिर मन की गति को संसार की कुवासनाओं से बदल कर ईश्वर परायण बनाने में सुगमता प्राप्त कर लेता है।

बाहर की तैयारी अन्दर की भूमि है

बाहर की क्रियाओं का अन्दर पर और भीतर के विचारों का बाहर की क्रियाओं पर सदैव प्रभाव पड़ता है। यह बाहर की तैयारी मानों अन्दर की तैयारी की भूमिका तैयार करना है। प्रायः देखने में आता है कि जो उच्च शिक्षा प्राप्त करके सिविल सर्विस (Deputy commissioner) की परीक्षा उत्तीर्ण करके भी आ जाता है तो उसे अनायास डिप्टी कमिश्नरी नहीं मिल जाती। पहले उसे बाहर का ज्ञान

सीखना पड़ता है यहां तक कि पटवारी के पास उसे सीखने के लिये भेजा जाता है, परन्तु वह उस समय पटवारी का काम सीखते हुए और करते हुए भी अपने आपको पटवारी नहीं कहता, डिप्टी कमिश्नर ही समझता है क्योंकि उस लक्ष्य के लिए वह कार्य कर रहा है। जब यह सब छोटे-छोटे बाहर के काम सीख जाता है तो उसे असिस्टेंट कमिश्नर (Assistant Commissioner) बनाकर तब भी नायब तहसीलदार की तरह तृतीय पद के फिर द्वितीय पद के पश्चात प्रथम पद के अधिकार मिलते हैं ताकि उसे पूरा-पूरा अभ्यास हो जावे। जब उसकी पूर्ति हो जाती है तब वह अपनी अवस्था को पहचानता है कि मैं अब इस योग्य हूं तो वह डिप्टी कमिश्नर बन कर अपने बाहर के छोटे-छोटे तजरबों (प्रयोगों) से अपनी सिद्ध की हुई साधना का लाभ उठाता है।

ईश्वर दर्शन का अधिकारी कब बनता है ?

ईश्वर प्राप्ति के लिए बहुत साधन करते हैं उदाहरणतया :—साधारण साधन, बाह्य स्थूल साधन, अति सूक्ष्म साधन। तब जाकर कहीं मनुष्य ईश्वर दर्शन का अधिकारी बनता है। परन्तु यह शर्त आवश्यक है कि जो मनुष्य मौन को अपना ईश्वर दर्शन

लक्ष्य समझकर मौन करे वह सावधान रहे।

बक (बगला) मौनव्रत

प्राय: मौनव्रत और उपवासों में बाह्य इन्द्रियों को तो उनके विषयों से पृथक रखा जाता है और रोका भी जाता है, परन्तु यदि भीतर ही भीतर वासना बनी रहे कि व्रत के बाद अमुक पदार्थ खूब खाऊंगा अथवा पदार्थों का आकार सामने ला लाकर उनका स्वाद लेता रहे। सुन्दर रूपों में अपने मन की तरंगों को बहते रहने दे, काम चेष्टा और भोग- विलास मैथुन आदि की चर्चा में मन अपनी क्रीड़ाएं करता रहे और उसकी रोकथाम के कोई साधन न करे, न ही विचारे न ही सोचे तो मानो वह मौनव्रत एक बक (बगला) मौन व्रत ही है। ऐसे व्रत से विषय विलास में अधिक फंसावट होगी, क्योंकि जिस भूमि को उपजाऊ से कई फसल रोक रखा जावें तो उसमें अधिक शक्ति पैदा हो जाती है और उपजाऊ अधिक करती है। ऐसे ही ऐसा व्यक्ति विषय में तीव्रगामी हो जाता है।

व्रती सचेत

व्रती को सदैव सचेत रहना चाहिए कि जिस प्रकार संसारी लोगों के सामने किसी भी इन्द्रिय से किया

हुआ उपद्रव उसे जेल यात्रा करा देता है और लोगों की लात-मुक उत्तर में पड़ती है, उसी प्रकार से जब वह संसार के लोगों से उपराम होकर एक ईश्वर के दरपार में बैठ गया है और उस समय में भी यदि वह अन्दर-अन्दर सूक्ष्म शरीर से उपद्रव करता है तो उसे चाहे लोग न देख सकें परन्तु ईश्वर तो वहां भी व्यापक है और सर्वज्ञ है और अन्तर आत्मा होने से अन्तर्यामी है। वह तो साक्षात् देख ही रहा है। जब उस प्रभु महान् शक्ति ने देख लिया तो वह कब छोड़ने लगा है। जब लोग नहीं छोड़ते तो वह प्रभु क्यों छोड़ देगा ? उसका तो जूता भी पाव सेर का नहीं, जिसका दीपक हमारे मिट्टी के दीपक की तरह नहीं अपितु सूर्य सा दीपक समस्त संसार को प्रकाश कर सकने वाला है, जिसका पंखा हमारे पंखे की तरह एक व्यक्ति को वायु पहुंचाने वाला नहीं, अपितु सारे जगत् में वायु का पंखा चला देता है, उसका जूता भी हमारे जूते के तोल का नहीं अपितु जब वह किसी को लगता है तो त्राहि माम् के शब्दों को कई जन्मों तक पुकारता रहता है।

मन का मौन तो तभी होगा जब सूक्ष्म शरीर से

पैदा होने वाले विषय-विकारों के विचारों को भी मनुष्य बड़ी दृढ़ता के साथ रोकने मूलोच्छेदन करने वाले यन्त्र को हर समय अपने हाथ में रखे रहे, जैसे नदी की बाढ़ को बांधते समय अथवा उसके प्रवाह को बदलने के लिए पानी बांधते समय बार-बार मिट्टी अथवा रेत की बोरियां या लकड़ियां उसी जल धारा में बह जाती हैं परन्तु निरन्तर धैर्य से इस क्षति की उपेक्षा न करते हुए ही उसे बांध ही लिया जाता है, इसी प्रकार मन की सूक्ष्म वृत्तियों को दौड़ते-दौड़ते रोकना, फिर उनका हाथ से निकल जाना, फिर रोकना और फिर उत्साह भंग न होने से मन भी अपनी तरंगों को छोड़ कर बन्ध जाता है। सैकण्डों से शुरू होता है तो किसी जन्म में सौभाग्यवश और प्रभु दया से मनमानी समय तक रुक सकने की आशा भी बन्ध जाती है।

मौन प्रकृति के अनुकूल है

मौन ही वास्तविक साधन मनुष्य के जीवन की उन्नति तथा विकास का है। किसी इन्द्रिय के व्यवहार को नियम पूर्वक रोकना प्राकृतिक नियमों के आधीन रहना ही है प्रकृति के प्रतिकूल चलना नहीं कहा जाता है।

यदि जिह्वा का विषय खाना अथवा बोलना ही केवल हो तो मनुष्य खाते-खाते भी रोगी हो जावे और बोलते-बोलते भी, यदि २४ घ० बोले तो मर जावे। (न ही कोई बोल सकता है) न ही २४ घ० आंख देख सकती है। न ही कान, हस्त, पाद २४ घ० अपना काम कर सकते हैं। उनको विश्राम देना, चुप रखना ही उनके कार्य को कर सकने योग्य बनाना है।

परमात्मा ने अपनी अपार दया से प्रत्येक मनुष्य के लिए निद्रा का समय नियत किया है और न्यून से न्यून ६ घ० इन सर्वेन्द्रियों को नितान्त चुप करा देना आवश्यक है जिससे प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति का विकास हो जाता है। तरोताजा होकर कठिन से कठिन कार्य भी कर सकते हैं इन्द्री सबल हो जाती है। जिसको निद्रा न आवे उसे रोगी समझा जाता है। निरन्तर कई दिन ऐसा मौन न मिले तो उसे अपनी मृत्यु का भी भय लग जाता है। अनेकों उपचार और साधन करने पड़ते हैं तब उसे जीने की आशा होती है। यह एक प्राकृतिक नियम है कि प्रति दिन मनुष्य को अपनी सब इन्द्रियों को शान्त और मौन करना चाहिए।

यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि जिसमें जो गुण नहीं,

वह कैसे पैदा होगा । मन चञ्चल है और स्वभाव से चञ्चल है । यह कभी चुप नहीं हो सकता । परन्तु यह गलत है क्योंकि प्रतिदिन यह ऐसा चुप हो जाता है कि इसे संसार व्यवहार की सुध तक ही नहीं होती । ऐसी शून्य अवस्था में आ जाता है, वह कब ? जब गाढ़ निद्रा में जीवात्मा को प्रभुदेव अपनी अमृत भरी गोद में ले लेते हैं (सुषुप्ति में) और सब थकान दूर होकर नए जीवन का संचार हो जाता है और प्रातः उठकर कहता है कि आज रात ऐसे आनन्द की निद्रा आई कि कोई सुध ही नहीं, वह आनन्द का आना केवल प्रभु की ही अमृत गोद में आने से आता है और मन अपनी सकल क्रियाओं, क्रीड़ाओं से मुक्त होता है, असमर्थ हो जाता है । स्वप्न के समय तो वह अपनी रामलीला करने का साहस कर ही लेता है परन्तु इस समय जब कि महान् शक्ति के आश्रय जीवन होता है, उसे साहस नहीं पड़ती, दुम दबाकर भाग जाता है । इससे स्पष्ट है कि मन को चुप करा सकना कोई नया गुण पैदा करना नहीं अपितु यह ही उसका स्वाभाविक गुण है ।

स्वसंकल्प से जब मनुष्य उसे मौन कराना चाहे

तब भी आवश्यक है कि प्रभु का आश्रय लेवे नहीं तो मन चुप नहीं होगा।

जरा और देखिये ! माता के गर्भ में जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर होता ही है परन्तु वहां पर निरन्तर कई मास वह उलटा लटके, केवल प्रभु के ही आश्रय और उसके नियम के आधीन सर्वस्व प्रभु का यन्त्र रूप बनें रहने से; जहां पर किसी भी सूक्ष्म इन्द्रिय को बिना विकास के और कोई क्रीड़ा ही नहीं, अपनें सब जन्मों के दृश्य सामनें स्मृति में आ जाते हैं। अपने जन्मों का साक्षात् करता है और वही अवस्था मरनें के समय होती है। कोई इन्द्रिय व्यापार नहीं चलता। सब ओर से शोर और हाहाकार होते हुए भी उसका ध्यान कहीं नहीं जाता नहीं सुनता, नहीं देखता। मन पूर्ण मौन साधे हुए है। जीवात्मा अपनें सब किये हुए कर्मों को अपनें साक्षात् कर रहा ही होता है। इस सब कथा का मूल सिद्धान्त यही निकला कि मौन ही साक्षात् का साधन अपितु अन्तिम साधन है।

—०—

संसार सागर का पुल

मन की व्यवस्था

मन की व्यवस्था करनी इतनी कठिन है जितना कि सिर के बालों की गणना। जिस मन की इतनी सूक्ष्मता और कोमलता हो, उसे वश में लाना क्योंकर सुगम बात हो सकती है। और जब तक उसे वश में लाकर उस पर अधिकार न जमाया जावे तब तक जन्म-मरण की फांसी (आवागमन के चक्र) से छुटकारा ही नहीं।

फिर तो इसे वश में लाने के लिए अवश्य कोई साधन ढूंढना ही चाहिए और वश में तभी आएगा जब उसकी व्यवस्था समझ में आवेगी। बिना किसी की व्यवस्था के, ज्ञान के उसमें दखल कैसे दिया जा सकता है। जन्म-मरण के पाश से बचने का अर्थ है ईश्वर की प्राप्ति।

अपार संसार सागर के छोर (किनारे)

मनुष्य इस संसार सागर में चक्कर खा रहा है और मार्ग नहीं पाता और पाते हुवे भी भूल जाता है। इस सागर के उर्वार का (किनारा) तो है प्रकृति और पार का छोर जिसे कोई देख नहीं सकता या देख नहीं

पाता, वह है परमात्मा। अब इतने असीम अगाध समुद्र को पार करने के लिए आत्मा को भंवर में ही गोता पड़ जाता है।

पुल या किश्ती

जहां पर नदियों के ऊपर सेतु बनें हैं वहां यात्री निर्भ्रान्त दिन हो अथवा रात्रि, अपने ही पाओं से पुल पर दौड़ता चला जाता है और यदि नाव का आश्रय लेना हो तो उसमें दूसरों की आधीनता के अतिरिक्त डूबने का भय लगा ही रहता है कभी तूफान आ जावे तो श्वास शुष्क होने लग जाए। परमात्मा की अपार कृपा है कि उसने अपने तक पहुंचने के लिए मनुष्य को मन का सेतु इस संसार सागर को तैरने, पार करने के लिए प्रदान किया है।

एक का त्याग

जो मनुष्य इस मन रूपी सेतु के ऊपर अपने पग दृढ़तापूर्वक रखेगा, और मन को नीचे रखेगा, उसके पार हो जाने में कोई सन्देह ही न रहेगा। परन्तु यह तो तभी होगा जब मनुष्य जिस किनारे खड़ा है उसे त्याग देवे और सेतु के ऊपर पग जमावे। यदि उस

किनारे को त्यागें ही न तो सेतु उसके पग को किस प्रकार अपने ऊपर लेने लगा है ?

न कोई इस किनारे का त्याग करता है और न ही पारले किनारे प्रभु तक पहुंचता है। सबसे पहली शर्त जो लक्ष्य तक पहुँचने और सेतु के अपने अधिकार में करने की है वह है त्याग !

त्याग कब हो सकता है ?

परन्तु त्याग तो किसी वस्तु का तब ही किया जा सकता है जब कोई आवश्यकता अथवा स्वार्थ प्रतीत हो। बिना किसी स्वार्थ अथवा लक्ष्य के न कोई त्याग कर सकता है। न ही त्याग करने वाला बुद्धिमान समझा जा सकता है। इसीलिये त्याग का विचार करना आवश्यक पड़ गया। जब कोई मनुष्य किसी मादक द्रव्य अथवा विषय का त्याग करता है तो उसे जब तक कोई क्षति अनुभव नहीं होती, तब तक नहीं छोड़ता और जब उसे उसके दोष का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और समझता है कि इसका लगाव रहने से इसके क्षणिक सुख से अमुक दीर्घजीवी सुख शीघ्र नष्ट हो जावेगा तब तुरन्त त्यागदेता है। अपना प्रिय सुख, पुत्र धन, स्त्री, भव्य भवन तथा राज्य पाट तक भी मनुष्य त्याग देता है। तब उसे यह मालूम हो जाता है कि यह

सब थोड़े काल का सुख देने वाले हैं और वास्तव में इनके अन्दर दुःख की मात्रा ज्यादा है और स्थाई सुख जो अमुक वस्तु में हैं, उससे ही प्यार करने में तत्पर हो जाता है। अर्थात् किसी भी वस्तु प्यारी से प्यारी, और बुरी से बुरी का त्याग उस बदल के लिए किया जाता है जो सुख देने वाली होती है।

त्याग की अन्तरात्मा

परन्तु त्याग एक शरीर है जो बिना प्रेम के मुर्दा है। प्रेम ही उसकी जान है अथवा जिस प्रकार हाथ की पूर्णता न केवल उसका तल है और न ही केवल पृष्ठ से है अपितु दोनों के अस्तित्व का नाम ही हाथ है। इसी प्रकार त्याग पृष्ठ है हाथ का, तो प्रेम हथेली है, यदि प्रेम पृष्ठ है तो त्याग हथेली—एक दूसरे के ऊपर उनका निर्भर है। कोई मनुष्य जब तक किसी वस्तु से प्यार प्रेम नहीं करता तब तक उसके ग्रहण के लिए परिश्रम नहीं कर सकता और वह परिश्रमी भी तभी हो सकता है जब पहली अवस्था का त्याग किया जावे तब दूसरी अवस्था की प्राप्ति हो।

सुख का मूल कारण

मनुष्य स्वभाव से ही प्रतिदिन मल का त्याग

करता है और इसी त्याग से उसके शरीर को सुख पहुँचता है। यदि वह कभी मल का त्याग न करे तो उसको दुःख सहन करना पड़ता है। ऐसा शरीर जिस का मल कई दिनों तक त्याग न होवे, वह व्याकुल हो जाता है और स्वास्थ्य से उसे प्रेम और इच्छा होनें से उसकी प्राप्ति के लिए वस्ति (जुलाब) का साधन लेकर मल का त्याग करता है तब उसे शांति और सुख मिलता है। अतः त्याग ही सुख का मूल कारण है।

मनुष्य रूपी भवन की नींव

मनुष्य का जन्म ही प्रेम और त्याग से हुआ है। इस मनुष्य रूपी भवन की नींव और आधारशिला प्रेम और त्याग ही है। एक लखपति धनाढ्य की इकली कन्या, लाड़-प्यार से पली प्रत्येक प्रकार के सुख और आराम में रहती हुई (समय आने पर अपने पति के प्रेम में) सब सुख और आराम, लाड़-प्यार और प्यारे माता-पिता और उनके गृह को त्याग देने के लिए तैयार हो जाती है। उसे एक मिनट के लिए भी यह विचार नहीं आता कि यहां तो इतना आराम और सुख है वहां पति के घर में भी प्राप्त होगा कि नहीं कितना बड़ा त्याग यह प्रेम करा रहा है।

और पति-पत्नी का प्रेम ही प्रजा उत्पत्ति का कारण है। यदि उनमें प्रेम न हो तो प्रजा कैसे उत्पन्न हो ? और यही प्रेम उनसे रज और वीर्य जैसे अमूल्य रत्न को शरीर के अन्दर एक प्रकाश की ज्वाला दे रही है, उसका त्याग कराता है। यहाँ तक ही नहीं, माता अपने पुत्र के प्रेम में ९ मास तक सर्व प्रकार के कष्टों को सहन करती हुई सब सुखों का त्याग प्रसन्नतापूर्वक ही करती है और पुत्र के उत्पन्न होने पर उसके प्रेम में उसके सुखी रखने में अपने सब सुखों का त्याग कुछ काल तक किये रखती है। पुत्र प्रेम में उसके दुःख में मीठी से मीठी निद्रा का त्याग, उसके पुनः पुनः मूत्र त्याग, मल विसर्जन, अपनी उज्ज्वल और सुन्दर वस्त्रों का त्याग सुतराम कोई वस्तु ऐसी नहीं, जिसे वह इस प्रेम के बदले में बिना किसी वैश्य वृत्ति की चाह के त्याग न करती हो। इसलिए त्याग और प्रेम मनुष्य के मन की वास्तविक व्यवस्था है।

संसार के विषयों और पदार्थों के अनुराग का त्याग जिसे स्थूल रूप में प्रकृति का त्याग कहा जा सकता है और दूसरा प्रभु से प्रेम—बस इस संसार सागर का यात्री जीव प्रभु प्रेम के लिये प्रकृति के ओर ले किनारे का ऐसा त्याग करे कि पीछे दृष्टि मोड़कर

न देखे। उसका त्याग करके मस्तिष्क में उसके अस्तित्व का चित्र सम्मुख न लाए और मन रूपी सेतु के ऊपर प्रेम की धुन में दौड़ता हुआ पारले किनारे पर प्रभु को प्राप्त करे।

वास्तविक तथा कृत्रिम प्रेम

जिस मन में प्रेम की तरंग तो उठती है परन्तु अवसर आने पर उसके लिए त्याग नहीं करना चाहता अथवा नहीं कर सकता तो वह प्रेम वास्तविक नहीं होगा, क्योंकि जब मनुष्य किसी वस्तु का त्याग नहीं कर सकता या नहीं करना चाहता तो कोई युक्ति या तर्क उसमें उपस्थित होकर त्याग से रोक देता है। यह युक्ति अथवा तर्क बुद्धि उठाती है जहां बुद्धि और मन का मेल नहीं वहां कृपणता अवश्यम्भावी है।

प्रेम का सम्बन्ध केवल मन से

बुद्धि तराज़ू है परन्तु प्रेम बिना बाट के तुलता है, इसलिए बुद्धि की प्रेम के समझवे में पहुँच नहीं। प्रेम वह वस्तु है जिसे मन ही जान सकता है, न इसका तोल परिमाण है, न लम्बाई चौड़ाई है और न ही बुद्धि के तराज़ू में समा सकता है।

यह तो ऐसी गोली है, मित्र खाए तो उसे मद आ जाए। यदि शत्रु खाए तो वह भी मुग्ध हो जाए। इसका प्रभाव दोनों पर एक जैसा है। प्रेम तो शरीर

तथा आत्मा तक को भुला देता है। अपने अस्तित्व और अहंभाव को मिटा देता है जब तक दुई की पहचान है तब तक प्रेम केवल कथन मात्र है, गुमान है न जान है।

त्याग ज्ञानयुक्त बुद्धि से

अब त्याग को ही लीजिए। कभी किसी वस्तु के त्यागने की मन में लहर उठती है तो तुरन्त त्यागने को तैयार हो जाता है। परन्तु जब वस्तु को हाथ लगाता है तो आवाज आती है। क्यों? क्या लाभ? यह आवाज बुद्धि ने पैदा कराई। अब जब तक क्यों और क्या का लाभ और वास्तविक ज्ञान बुद्धि को न हो जाए तब तक भी कोरा त्याग नहीं हो सकता जहां त्याग को पैदा करना हो वहां ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है।

त्याग के लिए सूक्ष्म ज्ञान की ग्रावश्यकता है और प्रेम के लिए स्थूल ज्ञान की। स्थूल ज्ञान में श्रद्धा विश्वास का पैमाना पूर्ण होता है और ज्ञान का संस्कार मात्र होता है। यहां पर यह तर्क और युक्ति की कील नहीं घुस सकती और यदि उसे बलात् घुसेड़ा जावे तो वह उसमें ही डूब जाती है क्योंकि श्रद्धा जल

का एक स्रोत है। जल में कोई कील नहीं लग सकती अपितु उसमें ड़ूब जाती है।

प्रेम मतवाले

कभी ऐसा भी होता है कि किसी अनिष्ट वस्तु के त्याग के लिए बुद्धि चेतावनी करती है परन्तु मन उसमें आसक्त होने से त्याग नहीं होने देता। त्याग तो बुद्धि की इच्छा से होना था परन्तु नहीं इसमें भी मन का प्रेम अथवा आसक्ति जिस वस्तु में है वहां पर बुद्धि की चेतावनी से तुलनाएं नहीं होती। इसलिए प्रेम और त्याग का वास्तविक स्थान मन ही है और हाथ ऊपर नीचे के समान यह शरीर और आत्मा के समान रहते हैं। दो होते हुए भी एक हो जाते हैं और एक हस्ती होते हुए भी दो कहलाते हैं। कवि ने कहा है –

प्रेम के बाजार की क्या अनोखी चाल है।
खोटा सिक्का देके खरा मिलता जरोमाल है॥

प्रेम में मन ऐसा मतवाला हो जाता है कि बुद्धि मानो उसमें है ही नहीं या रही ही नहीं। पिता जी एक धनी हो अथवा उच्च अधिकारी हो, बुद्धिमान और निपुण हो जिसके प्रभाव से साधारण जन थर-थर कांपते, जब भी अपने बालक के प्रेम में उससे बातें करने

लग पड़े तब वह बातें करने लग जाता है और इस प्रकार की क्रीड़ायें करने लगता है जिसे वह अपनी पोजीशन में भूल कर भी नहीं करता। ऐसे समय में यदि कोई उसका अनुचर भी देख ले तो उसे अपने अनुचर की आधीनता का विचार भी नहीं आता, वह अपने आपको भूल-सा जाता है प्रभु का मिलाप प्रेम की अगाध सीमा में होता है परन्तु संसार में कोई विरला मन ही इस प्रेम का सौदागर बनता है। सर्वसाधारण का न यह मन प्रेम का व्यापार करता है, और न मन वश में आता है और न ही प्रभु मिलाप होता है।

मन सौदा× की तकड़ी, सौदा* से है जकड़ी।
सौदा▩ लगेगा जब, तकड़ी होगी फकड़ी□ ॥

—o—

त्याग का स्वरूप

लोकैषणा.............................ईश्वर विश्वास

वर्तमान युग के न्यायी, दानी और नेता
प्रभु प्रेम से दूर क्यों ?

मन धोखा की एक भारी टट्टी है इसकी ओट में

× क्रय-विक्रय की वस्तु। * ईर्ष्या, छल कपट।
▩ पागलपन, मतवालगी। □ उड़ जाना (व्यर्थ)।

त्याग और प्रेम का ढंढोरा पीटने वाले बहुमत में पाए जायेंगे। त्याग दो शब्दों से बना है और उनके अर्थ हैं–ती+आग–ती के अर्थ हैं प्रकृति, ऐश्वर्य, सम्पत्ति और आग के अर्थ हैं अगुआ और अग्नि अर्थात् जो लोग अपने प्राकृत ऐश्वर्य को इसलिए त्याग करते हैं, दान करते हैं कि वह उनकी अगुआ बनकर उनकी ख्याति और प्रसिद्धि कर दे और वह इसलिए त्याग करते है कि मन में लोकैषणा का सौदा है, अगुआ कहलावें। उनको भी त्यागी तो अवश्य कहा जाता है, क्योंकि उनका बाह्य आचरण जनता के बाह्य नेत्र, बाह्य जिह्वा के सामने त्याग का है। ऐसे त्यागी जिनमें नम्रता नहीं पैदा होती, इसलिए वह सब कुछ त्याग कर देते हुए भी मन का त्याग नहीं कर सकते। अतः सच्चे प्रेम का उनको स्थान नहीं मिलता। इनमें अभिमान की मात्रा त्याग के कारण पैदा हो जाने से प्रभु मिलाप कोसों दूर रह जाता है।

मांयाँ मरी न मन मरे, मर मर गए शरीर।
आशा तृष्णा न मरी, कह गए भक्त कबीर॥

विश्व प्रेम के व्यापारी

और जो लोग अपने ऐश्वर्य सम्पत्ति को अग्नि में डाले हुए पदार्थ की तरह सर्व स्वाहा कर देते हैं और जिस प्रकार अग्नि बिना किसी देश काल जाति के भेद भाव से अपनी शरणागत वस्तु को छिन्न-भिन्न करके संसार में गुप्त रूप से पहुंचा देती है और उस वस्तु की बांट के सम्बन्ध में न तो अग्नि को कोई दाता कहता है न ही उस मनुष्य को जो त्याग करता है अपितु प्रत्येक उसे प्रभु का अमृत अथवा सौभाग्य (बरकत) या प्रभु कृपा का प्रसाद प्रभु से ही जानता है। ऐसे जन उस प्रकृति के ऐश्वर्य को अपना न समझ कर उसे तुच्छ और संसार के पदार्थों को संसार का समझ कर त्याग करते हैं। उन्हें कोई इच्छा न रहने के कारण नम्रता पैदा होती है और विश्व प्रेम के व्यापारी कहलाते हैं। प्रभु ऐसे जनों को बिना उनके परिश्रम और इच्छा के साक्षात् दर्शन देते हैं।

त्याग दो प्रकार से

त्याग दो तरह से हुआ करता है। एक संकल्प से, दूसरे भाव से। इन दोनों का स्थान मन ही है। जो मनुष्य संकल्प से किसी वस्तु का त्याग करता है उसमें उस वस्तु के गुण अवगुण का

संस्कार फिर भी मन में बना रहता है और उसका ग्रहण बिना संकल्प के भी कभी-कभी स्वप्न में कर लेता है और जो त्याग स्वभाव से होता है उसका संस्कार भी छूट जाता है। ऐसे त्याग में कई पूर्व जन्मों से संस्कार जमा होकर स्वभाव का रूप धारण करते हैं।

पहली प्रकार के मानव को ईश्वर विश्वास की कमी रहती है और दूसरी प्रकार वाले पूर्ण ईश्वर विश्वासी होते हैं। उनको नितान्त चिन्ता नहीं रहती। ईश्वर विश्वासी का ईश्वर पल-पल साथी बना रहता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं भजाम्यहम् ॥"

भक्तों के योगक्षेम की चिन्ता मैं (भगवान्) ने अपने ऊपर ले रखी है।

जहां ईश्वर स्वयं सत्य मित्र हों, जहां बालक माता की गोद में बैठा हो वहां बालक को किस बात की चिन्ता व भय हो सकता है।

जब किसी वस्तु का त्याग किया जाता है तो वह इन्द्रियों से छूट जाती है। जब किसी के गुण अवगुण का त्याग किया जाता है तो वह मन से छूट

जाती है। पहली अवस्था में केवल एक छूटती है, दूसरी अवस्था में दोनों अर्थात् अवगुण व गुण के त्यागने से वस्तु अपने आप छूट गई।

आत्मा का सम्बन्धी

आदरणीय प्रेमी मुख्य मन्त्री और मित्र

मन का आत्मा के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध है और आत्मा का मन के साथ ऐसा सम्बन्ध है कि संसार में किसी भी प्राणी के साथ इतना नाता नहीं। माता-पिता से मनुष्य बड़ा प्यार करता है और अपनी सब कमाई उनके चरणों में ला रखता है परन्तु समय आ सकता है जबकि वह स्त्री में इतना आसक्त हो जावे कि माता-पिता को अन्तिम नमस्ते कर दे। जिस स्त्री से माता-पिता का त्याग करने पर तैयार हो जाता है वहां अपने पुत्र के मोह में स्त्री का प्यार भी छोड़ने के लिए उसे देर नहीं लग सकती। उधर रिश्तेदारों का प्यार-प्रेम तो माता-पिता, स्त्री पुत्र से दूर के दर्जे पर ही रहता है, परन्तु जिसे वित्तैषणा अर्थात् जिसके मन की कामना धन में ही है, वह पुत्र को भी जुदा करने व उसके जुदा हो जाने पर भी परवाह नहीं करता। कभी मान प्रतिष्ठा का भूखा लोकैषणा में

आसक्त मन की खातिर अपना धन लुट जाने व लुटा देने की भी परवाह नहीं करता। वरञ्च मन की खातिर सब कुछ न्यौछावर करने पर उद्यत रहता है।

यह मन सबसे क्यों प्यारा है ?

इसलिए कि यह मन मनुष्य का आदि सृष्टि से सदा चला आता है। जैसे अनादि काल से परमात्मा ही इस आत्मा का सखा है वैसे आदि काल सृष्टि से मन मित्र बना है। दिन हो या रात, अन्धेरा हो या प्रकाश, निर्जन हो व सघन, ऊपर हो या नीचे, पूर्व हो या पश्चिम, उत्तर हो व दक्षिण, एकान्त हो व समाज, सुतराम् प्रत्येक काल, प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति में यह मन ही है जो आत्मा का साथी रहने वाला है। सब सम्बन्धी किसी न किसी समय पृथक हो ही जाते हैं परन्तु मन पृथक नहीं होता। शरीर भी एक दिन इस आत्मा से विमुक्त हो जाता है। परन्तु मन उस समय जब भी आत्मा आकाश में जावे तो साथ, वायु में प्रवेश करे तो साथ जल की धारा रम जावे तो साथ किसी धूम्र अथवा आकाश में जावे तो साथ, किसी वृक्ष वनस्पति औषधि में जावे तो साथ, स्त्री-पुरुष के रज वीर्य में जावे तो साथ, माता

के गर्भ में जावे तो साथ सुतराम् कभी भी यह मन आत्मा का साथ त्यागने नहीं पाता। अब यदि आत्मा इसी को ही अपना सच्चा मित्र, सखा न मानें तो किसको मानें ?

परामर्श दाता और मित्र कैसे

यही कारण है कि जब कभी कोई किसी को कहे कि यह कार्य तुम करो तो वह कहता है, 'अच्छा मैं सलाह करूंगा।' "किससे !" कहता है कि "बस और किससे परामर्श लेना है, अपने मन से एकान्त में परमर्श लूंगा।" अब उसे कोई संसार का बुद्धिमान मित्र सम्बन्धी कोई वकील व बैरिस्टर का नाम वाणी पर नहीं आता, मन ही को अपना परामर्शदाता, मन्त्री, मित्र और बुद्धिमान वकील और बैरिस्टर समझता है। एक का नहीं अपितु सब मनुष्य मात्र का यही हाल है। अब जब कोई पूछे कि सलाह की, कहता है, हां !" बहुत विचार किया, बड़ी बहस की। मैं यह तो समझता हूं कि यह कार्य मेरे लिए अच्छा है, परन्तु मित्र ! मेरा मन नहीं मानता। इसलिए मैं नहीं कर सकता।" कितना आदर और सम्मान इस मन का इस आत्मा को रहता है।

आदर और सम्मान क्यों ?

वेद भगवान भी कहता है।

"यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते"

यजु० ३४-३

निर्बल शरीरधारी मनुष्य का मन जब अपना बल दिखाना चाहता है तो विचित्र रूप धारकर जगत् को आश्चर्य में डाल देता है।

धधकती आग में कूद कर किसी प्राणी का जीवन बचा दिखाना इसी से महामारी Plague की अनायास प्राप्त मृत्यु जाल में फंसे रोगियों की सेवा करनी इसी से, युद्ध के रण क्षेत्र में शत्रु की गोली सीना पर खाना इसी से, विष को अमृत समान पी लेना इसी से, खड्ग और असि (तलवार) से पेट फड़वाना इसी से, भित्ति में जीवित अपने आप को चुनवा देना इसी से, सूली पर अपने आपको लटकवाना इसी से, पर्वत से गिराया जाकर चिकना-चूर होना इसी से, वक्षस्थल में बड़े-बड़े कील गड़वा कर उफ तक न करना इसी से, शरीर का बन्द-बन्द कटवा देना और संसार को मुस्कराता हुआ मुख दिखाना इसी से, कारागार की एकान्त कोठली में खड़े-खड़े चक्की का

पीसना इसी से, महीनों शरीर को अन्न से जुदा कर देना इसी से—

मन उबारे से उबरते हैं सभी,
कौन तारे से नहीं मन का तरा।
मन सुधारे ही सुधरता है जगत्,
मन उधारे ही उधरता है धरा।

मन दाता मन लालची, मन राजा मन रंक।
जो यह मन हरसों मिले, तो हरि मिले निशंक॥

इसलिए यदि कोई बन्धन से भी मुक्त होना चाहता है तो उसे अवश्य इस मन की उलझन में पड़ी कड़ी को खोलने के लिए अपना सर्वस्व इसी के खोलने में व्यय करना होगा।

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

दाता के दरबार में दुःख भरी पुकार

ईश्वर रचना मेरे लिए न कि मैं रचना के लिए

हे दयालु पिता! तूने यह कैसी रचना करके, फांस दिया। तू तो स्वभाव से दयालु है। मेरा तेरा पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। देख मैं कितना व्याकुल हो

रहा हूँ। तू प्रकृति के सर्व पदार्थों को रच कर उसमें ओत-प्रोत भी है परन्तु तू लेशमात्र भी आसक्त नहीं हुआ और मैं जो तेरा पुत्र कहलाता हूँ और किसी भी पदार्थ को न बना सकता हूं और न ही उसमें ओत-प्रोत हूँ, बिना प्रयोजन व सम्बन्ध उसमें आसक्त हो रहा हूं, कि जैसे वह मेरी अपनी पैदा की हुई है। माता-पिता को तो बालक से इसीलिए मोह हो जाता है और वे उसके ऊपर न्यौछावर हुए रहते हैं कि वे उसके पैदा करने वाले हैं। आत्मज पुत्र पर न्यौछावर होने के लिए सब तैयार हैं दूसरे के बच्चे के लिए नहीं परन्तु मैं क्यों उस वस्तु में आसक्त होता हूं जिसको मैंने पैदा ही नहीं किया। तूनें कृपा की थी, पैदा किया उसको मेरे लिए न कि मुझको भेंजा उनके लिये। परन्तु मैं उलट में आ गया। अब मुझे उलटाओ, कृपा करो, मैं सीधा हो जाऊं। उलट का उलट ही सिधाई का गुर है।

तू ने जो मेरे रक्षक पांच नियत किए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, उन्होंने भी रक्षा न की। उन्होंने मेरे मन्त्री मन के चाटुकार बनकर उसे भी अपना दास बना लिया और पंजे में कस लिया और

अब उनके साथ मिलकर मेरे राज्य अर्थात् शरीर को विध्वंस कर रहे हैं और मुझे कहते हैं कि तेरा क्या? तू उनका क्या लगता है। प्रभो! जब मैं तेरे दरबार में पुकारने के लिए तैय्यार होता हूँ, यह अपना सिक्का दिखाते हैं। इनकी निर्दयी चालों से मेरा तो नाक में दम आ गया है। न दिन को चैन लेने देते हैं और न रात्रि को पीछा छोड़ते हैं।

जब कभी मैं हठ करके तेरे दरबार बैठ जाता हूं और अपने अन्दर गहरी से गहरी डुबकी लगाता हूं और थोड़ी-सी सफाई हाथ से करने लगता हूं तो सहसा इतनी दुर्गन्ध की भड़ास उठती है कि अति व्याकुल हो जाता हूं, बैठना कठिन हो जाता है। जिस प्रकार किसी नाली में कई वर्षों से जल चलता हो, ऊपर से सबको स्वच्छ निर्मल प्रतीत होता है, कोई मल दुर्गन्ध नहीं आती और जब कभी कूप को कुछ दिनों के लिए बन्द कर दिया जावे और नाली की सफाई होने लगे तो चिरकाल की जमी काही और सोमा (मल) उखड़ कर दुर्गन्ध फैलाने लगती है और पास वालों का गुजरना भी कठिन हो जाता है। ठीक यही अवस्था मेरी है। जन्म-जन्मान्तरों की मल इस मन के ऊपर जमी हुई है।

जब भी इसे उखेड़ता हूँ तो अत्यन्त दुर्गन्ध अर्थात् पापों से व्याकुल हो जाता हूं। अब मुझे अपनी असलियत का पता लग रहा है कि मैं कितने जन्मों के कुसंस्कारों से मलिन और गन्दा हुआ हूँ। यह तो तेरी दया का जल है जो मुझ में बह रहा है जिससे मैं अपने आप को और लोगों में निर्मल दीखता था। अब जब तूने जरा चुप करा दिया तो मेरी सडांध और गन्दगी मुझे ही व्याकुल कर रही है। यदि दूसरे पास हों तो पता नहीं, उनको कितनी घृणा मुझ से हो जावे और दूर भागें मुझ से, जो मेरे साथ बैठने में ही अपनी खुशी समझते हैं।

हे दयालु पिता ! मुझे इस मल से बचाओ। मेरे मन्त्री की किल्ली मरोड़ो। इस उलटे को उलटा करो ताकि जो मल और सोमा जन्मों से भरा हुआ है, वह नीचे ही दब जाए और तेरी विशाल दया के समुद्र में मिलकर बह जावे और उसका नाम मिट जाए। मेरे रक्षकों को जैसा बाहर का रक्षक बनाया था, अन्दर से निकालो। भगवन् यह बाहर ही रहे तो मेरी भलाई ही है नहीं तो मेरी तबाही है।

हे मुझ दीन के बन्धु ! कृपासिन्धु ! मुझे अब

बचाओ, बचाओ ! मेरा कोई और आश्रय नहीं । मेरी टेर सुनो, मेरी व्याकुलता को शान्त करो । मुझे दीन हीन अवस्था से मुक्त करो । मैं तेरा सच्चा पुत्र बन सकूं !!! ओ३म् शम् ।

—०—

योग्य पिता का अयोग्य पुत्र

हे हमारे दयालु पिता ! जब मैं तेरे द्वार पर आकर तुझे पिता कह कर पुकारता हूँ, मैं अन्दर ही अन्दर लज्जित हो जाता हूँ कि किस मुख से तुझ पवित्र, निर्मल, शुद्ध प्रभु को पिता कह रहा हूं । तू अत्यन्त पवित्र है और मुक्त स्वभाव है । मैं अति मलीन और गन्दा, जन्म-जन्मान्तरों से बन्धा और बन्दी, दीन-दास बना चला आता हूं । तू पाप और गुनाहों से रहित और मैं पापी और अत्यन्त कुकर्मी । संसार के व्यसनों से लिप्त हूं । तुझे पिता कहना तो तेरी शान को बट्टा लगाना है । तुझे वासना स्पर्श तक नहीं करती और मैं वासना का दास बना हुआ हूं । तू तो प्रेम का स्वरूप है और मैं द्वेष की अग्नि में जल रहा हूं । हे नाथ ! कभी ऐसे पिता और पुत्र का सम्बन्ध चल सकता है ? व बन भी सकता है ? मेरी तो अन्तरात्मा

स्वयं जवाब दे देती है, असम्भव-असम्भव !

आश्रय दाता

फिर पिता ! मेरा ठिकाना कहां ? और मेरा आश्रय किस जगह ? तू तो पापियों का त्राता है। पतितों का पावन है। सबका आश्रय दाता है। ऐसा तो सब कोई सुनता-सुनाता आया है। मैंने तो तुझे अपनी आंखों से आश्रय दाता देखा है। तेरे विचित्र रहस्यों का अनुभव भी किया है। तेरी दया को तो मैं साक्षात्-साक्षात् देख रहा हूँ।

विद्युत का चमत्कार

फिर भी पिता ! तेरी इतनी करुणा और दया को प्राप्त करते हुए भी सच्चा प्रेमी और पूर्ण विश्वासी नहीं बन रहा। तेरी दया के मुकाबले में मैं अपने प्रेम की इतनी त्रुटि अनुभव करता हूं जितनी कि कृष्ण पक्ष में चांद की चांदनी की। मैंने तेरी रक्षा का हाथ अनेक स्थानों पर पहले देखा परन्तु भूल जाता रहा। अब की बार तो तूने ऐसी दया की, कि पूर्ण विश्वास करा दिया और भूली हुई तेरी करुणाएं नए सिरे से स्मृति में आकर आंखों के सामने आ गईं।

अमृत वर्षा

फिर भी पिता ! चौबीस घन्टे पर्यन्त वह साक्षात् नहीं टिक रहा। किसी-किसी समय चिन्ता हो ही जाती है और तेरा आश्रय तेरा रक्षा रूपी हाथ मेरी चुन्ध्याई आंखों से ओझल हो जाता है और जब मैं चिन्ता में व्याकुल होता हूं, तो सहसा तेरी करुणा का मेघ वृष्टि करने लगता है। मैं सचेत हो जाता हूँ और तेरी रक्षा का विश्वास मेरे हृदय और बुद्धि के ऊपर अपना अधिकार जमा कर मेरी चिन्ता को भगा देता है।

पिता ! मैं जिन वस्तुओं को तुझ से मांगता हूं, कभी-कभी मेरा यह मन मेरा पूर्ण साथी और इसके विरोधी संस्कारों को जगा देता है। मुझे उसमें शामिल रहने के लिए घसीट लेता है। बहुत समझाता हूं कि कल तूने यह प्रभु से मांगा, अब तू उसे भूल गया। तुझे प्रभु कहां देंगे। तू तो खाक और मिट्टी छानेगा। वह प्रभु दयालु तो हैं, परन्तु तू तो चिढ़ा रहा है। अपने भिखारीपन को भी लजवा रहा है। जिस प्रभु को तू प्रतिदिन, दिन और रात में कई बार कहता है कि प्रभु अपना साक्षात् कराओ मेरा अभीष्ट तेरा दर्शन ही है,

तू सर्वव्यापक है, मैं सर्वत्र तुझे सर्वव्यापक रूप से देखूं। फिर मन चंचल बनकर उसी की उपस्थिति में ऐसी चालें, ऐसे संकल्प कर रहा है। प्रभो! मैंने अनेकों बार आजमाया है। यह मन मेरे समझाने धमकाने और मार-पीट करने से भी चुप नहीं हुआ जब तक तेरी कृपा के हाथ ने इसे शान्त नहीं किया। इतनी तेरी करूणा और विभूतियों को पाकर भी मैं तेरा धन्यवाद पूरा नहीं कर रहा। तेरे साथ अभी पूरा प्रेम नहीं कर पाया।

करनी कथनी के विपरीत

मेरी दुकानदारी और वाणिज्य वृत्ति तेरे हाथ चल रही है। मुझे स्वयं प्रतीत होती है। मैं प्रतिदिन कहता हूँ कि प्रभु, मुझे स्वीकार करो। यह मन शरीर, इन्द्रियां और आत्मा सब तेरी हैं। तेरे अर्पण हैं कृपा करो, स्वीकार करो परन्तु फिर भी मेरे कहने और करने में भूतलाकाश का अन्तर है। तुझे 'अर्पण' करते हुए भी कि स्वीकार करो, अपनी-अपनी क्रीड़ाओं में तेरी आज्ञा के बिना अपना-अपना व्यवहार व्यापार करने लग जाती हैं। यदि सब काम, सब संकल्प और सब व्यापार, उनका शुभ शक्ल में होता तो मैं समझता कि तूने स्वीकार कर लिया और तू ही कर रहा है। परन्तु

जब मैं उलट-पुलट मार्ग को भी तय करके देखता हूँ तो यही समझता हूं कि अभी मेरी अपनी मनमानी प्रार्थना है, तू स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। मुझ में अभी बड़ा दोष है और कोई भारी भूल है। मैं अभी अभागा ही हूँ।

कर दया दृष्टि

प्रभो कृपा करो मैं तो तेरा पुत्र हूं और सच्चा पुत्र बनना चाहता हूं और स्वयं पापी होते हुए भी तुझ पवित्र, निष्कलंक को पिता, दयालु पिता के नाम से पुकारता ही जाऊंगा, चाहे तुझे अच्छा जचे या बुरा, बट्टा लगे व न। मैं तो और कोई उपाय नहीं देखता कहां जाऊं और कहां समाऊं ? मेरे शुद्ध पिता, कर दया दृष्टि। नहीं तेरे बिना भला जाऊं कहां, तेरे दर के सिवा। जब तू ही पिता, फिर जाऊं कहां ? कर दृष्टि दया !

पिता ! मैं तो अपनी भूलों को स्वीकार करता हूं और तू मुझे ही स्वीकार कर।

ओ३म् स नः पितेव सूनवे, अग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा न स्वस्तये ॥ ऋ० १।१।९

—०—

॥ ओ३म् ॥

अनखुट मांग—माता से

हे मंगलमयी माता ! मेरी सारी आयु मांगने में ही गुजरी और गुजर रही है। मैं कभी तृप्त नहीं होता। निद्रा से जागूं तो मांगू जागने से सोऊं तो मांगूं। प्रार्थना करूं तो माँगूं। सन्ध्या करूं तो मांगूं हवन करूं तो मांगूं। भजन करूं तो मांगूं। भोजन करूं अथवा जल पियूं तो मांगूं। मेरी मांग समाप्त होने में नहीं आती। हे मेरी प्रेम की मूर्त माता ! कभी तू भी कहती होगी कि कितना लोभी तृष्णालु यह मेरा भक्त है। जितना मैं इस पर अधिक दया करती हूं उतना ही अधिक अपनी मांग बढ़ाता चला जाता है। इसे मांग से जरा भी लज्जा नहीं आती और देने के लिए कोरे का कोरा है। कह देता है :

माल नहीं मेरे संपद नाहीं,
जिस को कहूं मैं मेरी।
इस जग में हम ऐसे बिचरें,
जोगी करे ज्यों फेरी।
प्रभु जी ! भेंट धरूं क्या मैं तेरी ?

गुप्त दान

माता ! मेरी प्रिय माता ! तू भी सच्ची है परन्तु मैं भी सच्चा हूं। किसी बनावट से नहीं कहता। तू तो सर्वज्ञ है। मेरी आत्मा की आत्मा है। तुझ से मेरा कुछ गुप्त नहीं है। तूने तो सब कुछ मेरे लिए बनाया भी और फिर सब कुछ छिपाकर रख दिया और जब दिया फिर भी गुप्त रूप छिपा कर दिया। न देने में प्रकट हुई, न देखने में प्रकट। पुत्र तो सदैव काल अपनी माता से ही सब कुछ मांगा करता है। दिन भर मांगता ही रहता है। असमर्थ बच्चा जल मांगे तो मां से, भोजन माँगे तो मां से। लड्डू पेड़ा मांगे तो माँ से। वस्त्र माँगे तो माँ से। कोई ताड़ना करे तो माँ से। कहीं डरे तो कहे माँ से। उसका तो कोई ठिकाना ही नहीं। उसकी आँख की पुतली में बिना माँ के और कोई अपना प्रतीत नहीं होता जिससे वह पुकार करे, जिसके आगे वह दुःख की आह निकाले। जब भी संसार में आया, खाली हाथ आया। उसके पास रखा ही क्या है। जिससे वह न माँगे। उसका तो बिना माँ के निर्वाह ही नहीं। जब तक माता पकड़ कर उसे अपनी मंगल दात्री गोदी में सुलाकर अपने प्रिय, कोमल,

करुणामय हाथ से थपक कर अपनी अमृत-पूर्ण वाणी से मधुर मनोरंजक लोरी नहीं देती वह मांगता ही रहता है।

पुरातन स्थाई याचक

माता, प्रिय माता ! मैं कोई नवीन याचक नहीं, जन्म-जन्मान्तर का याचक हूं और घुट्टी ही जन्म से मांग ली है। मेरे शरीर में एक इन्द्रिय तो नहीं जिस की एक वस्तु से तृप्ति हो जावे। सब इन्द्रियों की मांग पृथक-पृथक रहती है। मुझे सबके लिए जुदा-जुदा बार-बार तुझ से मांगना पड़ता है और इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर मांगता ही रहूंगा, जब तक तू अपने करुणामय हस्त से, अपनी दया दृष्टि से, अपनी अमृत गोदी में लेकर अपनी मनोहर, उत्तम, श्रेष्ठ वाणी से आनन्द का रस न पिलायेगी।

एक ही दाता

मेरा उदर अन्न मांगता है, तो तन के लिए वस्त्र मांगता हूं। भला, ये वस्तुयें किसी और के द्वार से मांगू और तेरी कृपा से तेरे नाम के आश्रय मिल जावें तो इन्द्रियों की संयमता, शरीर को निरोगता किस से मांगू ? कौन है संसार में ऐसा जो मुझे अपने कोष से दे देगा।

जीवित वाणी

जब मैं यह सुनता हूं कि तेरी अमृत वाणी अमर कर देने वाली है तो मेरी भी यही इच्छा होती है कि मेरी वाणी को जीवित वाणी बनाओ, सत्यवादिनी, प्रिय वादिनी, शुभ वादिनी बनाओ जो कभी भूलकर भी कठोर और कुटिल शब्दों से किसी हृदय मन्दिरमय को भंग न करे। सब प्राणियों के हृदयों को शान्त और संतुष्ट करने वाली हो। शत्रु भी अपनी शत्रुता को भूल जाये। असत्य न बोले, कभी अप्रिय न बोले। कभी अशुभ न बोले, कभी असत्य, मिथ्या, वितण्डावाद, वाद-विवाद में न फंसे। मेरी वाणी को तेरा ही यश-गान करने का सदैव अवसर प्राप्त रहे और बलवती वाणी हो।

मुझे इतनी वस्तुएं कौन प्रदान कर सकता है और जिनके पास हों भी, वह तेरा मोहताज एक याचक दूसरे याचक की मांग कब पूरी कर सकेगा इसलिए माता ! सद् माता ! दया की आकृति माता ! मुझे तो तुम से मांगना है।

दिव्य चक्षु

मैं जब अनुभव करता हूं कि तेरी चक्षु दिव्य चक्षु हैं तो मेरी बड़ी उमंग बढ़ जाती है कि मेरी माता

की दिव्य चक्षु हैं तो मैं उसका पुत्र होते हुए आसुरी चक्षु से क्यों देखूं ? मैं भी सब प्राणियों में मित्र दृष्टि से देखूं, यह तो तभी होवे जब मैं तेरी सर्व-व्यापकता सर्व-अन्तर्यामिता, सर्व-विद्यमानता का भान करूं ? और यह दात, यह दान तू अपने अमर कोष से प्रदान न करे और कौन दे सकता है ? दुकानदारों के पास यह वस्तु है नहीं, व्यापारी इसका व्यापार नहीं करते। राजाओं महाराजाओं के कोष इस रत्न से शून्य हैं। एक तू ही मेरी मां है जिससे यह रत्न पैदा होता है। इसलिए यह मांग भी तेरे द्वार से की जाती है।

हे माता ! एक मैं ही भूखा प्यासा नहीं, मेरा सारा परिवार भूखा प्यासा है। मेरी आत्मा तो तेरे दर्शन की प्यासी है। मेरी बुद्धि विज्ञान की भूखी है, मेरा मन तेरे सत्य की चाह रखता है। तेरे पूर्ण विश्वास विश्व प्रेम और तेरे प्रकाश के बिना व्याकुल हो रहा है। मेरा चित्त संसार की स्मृतियों से तंग आ गया है। एक तेरे ही नाम की स्मृति और संसार की कल्पनाओं की विस्मृति को लालायित हो रहा है। मेरे बाहु तेरे संसार के प्राणियों की सेवा के अधिकार के लिए फड़क रहे हैं। माता ! एक नहीं दो नहीं। यहां तो सारा

कुटुम्ब ही अत्यन्त दुष्काल की अवस्था में दीन हो रहा है। तू कृपा करेगी तो सब की तृप्ति हो जायेगी।

माता ! तू तो माता है। पुत्र तो कुपुत्र हो जाता है परन्तु माता तो कभी कुमाता सुनने में नहीं आई। तू तो अपना स्वभाव पूरा कर, मुझे तो आशा है कि जब तेरी कृपा हुई, मैं जन्म-जन्मान्तर का कुपुत्र आन की आन में तेरा सच्चा सुपुत्र बन जाऊंगा।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव-देव॥

—०—

॥ ओ३म् ॥

प्रभु के बाह्य दर्शन

पहला धाम

प्रत्येक सम्बन्ध के साधन

निर्मलता :—

पहला धाम —दान मार्गव्यय
कर्म की मञ्जिल —जन सेवा/संघ सहित
प्रभु के बाह्य दर्शन —शुभ कमाई तपजित/पैदल यात्रा दृढ़ संकल्प/स्थिर पग

मल संज्ञक पर्वत की चढ़ाई

------------ ---------- ---

---------- ---

संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं प्रतीत होती जो अपना संयोग या सम्बन्ध किसी अन्य वस्तु से जोड़ने या करने के लिए स्वयं समर्थ हो। प्रत्येक वस्तु किसी तीसरी शक्ति की मोहताज है। मनुष्य का पारिवारिक नाता अथवा सम्बन्ध, संयोग भी किसी माध्यम पर अवलम्बित है। जो सम्बन्ध मेरा, मेरे मामा वा नाना-नानी से है वह भी सीधा सम्बन्ध नहीं अपितु मेरी मां के सम्बन्ध से है और जो सम्बन्ध मेरा मेरे दादा, दादी, दादा अथवा चाचा, ताया, फूफी आदि से है वह मेरे पिता के कारण से है। और जो सम्बन्ध मेरे सास-श्वशुर अथवा उनके परिवार से है वह मेरी स्त्री के कारण से है। इसी प्रकार जड़ वस्तुओं से भी जो मेरा सम्बन्ध है उसमें अहंकार ही एक साधन है

जो सबको अपना बनाए फिरता है। शरीर तक से जो आत्मा का प्रेम और उसका सत्कार है वह भी अहंकार के कारण से पाया जाता है। यदि अहंकार मर जाए तो शरीर अपने आप जुदा दीखने और भासने लगेगा। उसके दुःख और सुख में उसे शीतोष्ण लगने में कोई भेद ही न भान होगा।

परमात्मा और आत्मा के संयोग का साधक

परमात्मा से जो आत्मा का संयोग हुआ है उसमें भी सब से बड़ा साधन एक मन ही है। कोई भी ज्ञान, और कोई भी कर्म अथवा किसी भी प्रकार की पूजा, भक्ति, आराधना, अर्चना नहीं हो सकती जब तक मन का संयोग न हो। जैसे बाहर की किसी वस्तु का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय को नहीं हो सकता जब तक मन उनके साथ न हो और कोई इन्द्रिय काम नहीं कर सकती जब तक मन का संयोग न हो। इसी प्रकार आत्मा को कोई भी बाहर का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता जब तक मन आत्मा के साथ न हो। भीतर और बाहर के ज्ञान और कर्म का साधन मन ही है। और भक्ति वा उपासना वा ईश्वर मिलाप जो आत्मा का परमात्मा से संयुक्त होना है, वह आत्मा स्वयं संयुक्त नहीं हो सकता।

परमात्मा से दूरी क्यों ?

मन जब तक इसका अपना पूरा साथी नहीं बनता, शान्ति और स्थिरता से आत्मा संयुक्त नहीं होता, परमात्मा से दूरी रहती है। तात्पर्य यह है कि जब तक मन आत्मा से दूर-दूर फिरता है और जितना दूर-दूर रहता है उतना ही और तब तक परमात्मा भी आत्मा से दूर-दूर प्रतीत होते हैं।

परमात्मा चूंकि शरीर के बाहर भी व्यापक है और शरीर के भीतर भी और बाहर भी है, परमात्मा का साक्षात् भक्त को सबसे पहले बाहर ही हुआ करता है और फिर भीतर होता है। कोई भी वक्त वा उपासक इस नियम का भंग नहीं कर सकता।

शरीर से लेकर परमात्मा तक तीन धाम हैं। प्रत्येक धाम को यात्रा बड़ी कठिनाई से होती है, क्यों कि धाम की यात्रा पर्वत की चढ़ाई के समान है जहां मोटर और फिटन जा पहुंचना अति भयानक है। प्रत्येक यात्री, क्रमश: पैदल अपने मार्ग पर बढ़ता चलता है और संघ के साथ चलता है और अपनी यात्रा का सब सामान साथ बांधता है, जप और तप से अपनी यात्रा के दिन व्यतीत करता है।

यह पहली मंजिल कर्म कहलाती है और इसमें पर्वत की रोक है इन्द्रियों का मल नामी पर्वत है जो इन्द्रियों और मन के मध्य में है। यात्री को इन्द्रियों की विषयासक्ति, दासता, अपवित्रता और अशुद्धता इस धाम का स्नान वा दर्शन करने नहीं देती। जन्म सारा उधेड़बुन में बीत जाता है और पहला धाम भी नहीं कर सकता। जिस मनुष्य ने अपने यत्न से तप और जप से इन्द्रियों को विकारों, विषयों से रोक कर शुभ कर्म में लगा दिया, समझो उसने मल नामी पर्वत पर खूब पग जमा कर पार कर लिया। यह 'दान' तो यात्रा को सामग्री है और समाज सेवा, जन सेवा, परोपकार संघ का साथ है। अपने ऊपर विश्वास, अपने शौर्य से चलना, अपनी शुभ कमाई करना यज्ञ है। इन तीनों का नाम कर्म है।

दान तो ऐसी वस्तु है जिसे हम बीज कह सकते हैं। अपनी मंजिल पर पहुँचते ही अपनी बीजी हुई को बिना कष्ट अनेकों रूपों में प्राप्त करता है। किसी का आधीन अथवा याचक नहीं बनता।

और जन सेवा, समाज सेवा, उसके उत्साह और पुरुषार्थ को बढ़ाती है। यात्री का मन अपने पुत्र संघ

के कारण सदैव प्रसन्न रहता है। उसे उपरामता, क्लेश वा दुःख का भय नहीं रहता। उसमें बल और सामर्थ्य बढ़ जाती है।

अपने ऊपर विश्वास, अपनी शुभ कमाई (पैदल चलने), तप और जप जो आत्मा को शुद्ध पवित्र करने के साधन हैं, उसके यश को बढ़ाते हैं।

बाह्य दर्शन

इसलिए जो मनुष्य इस प्रकार के कर्मों को करके अपने आप को मन से निर्मल बना देता है वह बाहर के प्रथम सोपान को पार करने पर ईश्वर का साक्षात अनेक प्रकार से बाहर ही बाहर करने लग जाता है जिससे उसकी रुचि और भी आगे के धाम करने के लिए बढ़ जाती है।

धर्म के १० लक्षणों के मर्म को समझने की आवश्यकता

कर्म ही ऐसी मंजिल है जिसमें मनुष्य को अपनी सफलता के लिए संग्राम तथा मुकाबिला का जीवन बिताना पड़ता है कहीं तो क्रोध को अपना यन्त्र बनाना पड़ता है और कहीं क्रोध को जीतना पड़ता है। कहीं काम चेष्टा को दबाना पड़ता है। कहीं इसको अपनी

वंश वृद्धि का उपाय बनाना पड़ता है। कभी लोभ का रूप देकर तप से प्राप्त करना पड़ता है और कभी उससे उपेक्षा वृत्ति काम में लाई जाती है। समय पर मोह—छोटे से मोह को विशाल करके सबको अपने ऊपर मोहित कर लिया जाता है, कहीं मान-अपमान, निंदा स्तुति की भी परवाह न करके अहंकार को मृत-प्राय: बनाकर अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने में जीवन देना पड़ता है और कहीं अहंकार की रक्षा स्वात्म-अभिमान के लिए की जाती है। धर्म के दसों लक्षणों के मर्म को इस कर्म की पूर्ति में ही समझा जाता है।

गुप्त सहायक

अनेक स्थलों के ऊपर गुप्त रूप से परमात्मन् देव अपनी रक्षा, सहायता और बल बुद्धि को देते हुए यात्री की रुकावटों और बाधाओं को जब वह अति व्याकुल होकर थक कर ईश्वर के अर्पण अपने आपको कर देता है और सच्चे तौर पर ईश्वर के बिना और कोई आश्रय अपना नहीं मानता तब उसकी उलझन की कड़ी इस प्रकार खोल देते हैं कि उसे सिवाय आश्चर्य और हर्ष के (जिसे आश्चर्य की खुशी कहें)

और कोई मुक्ति का कारण ही सम्मुख नहीं प्रतीत होता, उस समय बड़े प्रेम से वह पुकारता है, प्रभो ! तू धन्य है ! धन्य है ! तू विधाता है ! कठिन को सुगम कर देने वाला प्रभु है। बेअन्त है। सचमुच भक्त वत्सल है !

—०—

॥ ओ३म् ॥

ईश समीपता

ओ३म्

विक्षेप संज्ञक कम्पायमान पर्वत

शान्त मन

दूसरा धाम

देश समीपत

उपासना का सोपान
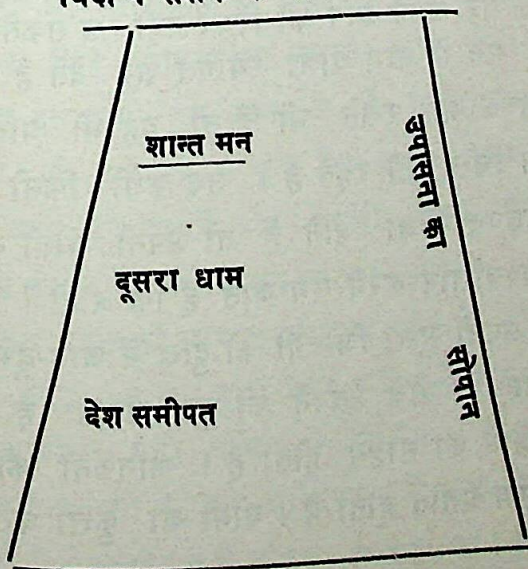
दूसरा धाम—उपासना का है। इस धाम की यात्रा में मन और आत्मा के मध्यवर्ती एक अत्यन्त भयानक टेढ़ा पर्वत है जो प्रतिक्षण कम्पन और चेष्टा करता है। स्थिर पर्वत पर तो धीता करके, साहस करके, एक दूसरे के कन्धे वा टेक का आश्रय, घुटने के बल मनुष्य चढ़ ही जाता है।

कम्पायमान पर्वत

परन्तु जहां पर्वत स्वयं ही कम्पन कर रहा हो वहां किस प्रकार भला कोई पग जमावे और किस वस्तु का सहारा लेवे। इसलिए प्रायः यात्री इस भयानक पर्वत पर अपने आप को स्थिर नहीं रख सकते और गिरने के भय से धाम यात्रा स्थगित कर देते हैं। जो साहस करके पग रखते भी हैं तो वह भी प्रतिक्षण डावाडोल चित्त होते रहते हैं। जब कभी किसी मोड़ अथवा टेढ़ेपन में आ जाते हैं तो अपनी बीती यात्रा पर भी पश्चात्ताप करने लग जाते हैं कि ओहो! क्या किया? अपनी सुखी जिन्दगी को दुःख में जान-बूझकर डाल दिया। न नीचे उतरने को मन चाहता है और न ऊपर जाने का साहस होता है। जानकनी की-सी घटना समुख प्रतीत होती है। धोबी का कुत्ता घर का न घाट का।

चढ़ाई में सफलता की विधि

इस पर्वत का नाम विक्षेप है। मन चंचल प्रसिद्ध है। हिण्डोला की तरह मनुष्य को कभी आकाश की ओर ऊपर ले जाता है और कभी उसी क्षण में नीचे भूमि की ओर झुका देता है। इसका उतार चढ़ाव क्षण-क्षण बदलते रहने से और अस्थिर होने से बेकाबू मानव असफलता का मुख देखता है और जब तक मृत्यु को हथेली पर रखकर बड़े धैर्य, श्रद्धा, से निरन्तर बार-बार इस पर एक पग जमाकर ठहरे रहने से और फिर दूसरा पग जमाने और इसी प्रकार तीसरा इत्यादि—इस प्रकार से जो मनुष्य समय और जीवन की परवाह न करे कि बहुत समय अथवा बहुत जन्म लग जायेंगे और अपनी यात्रा श्रद्धा और धैर्य से ईश्वर के आश्रय तय करता जायेगा, वही एक दिन इस पर्वत को पार करके इसी धाम में ही आनन्द प्राप्त करेगा कि सब दुःख और कठिनाईयां एक पल में भूल जायेंगी। यही दर्मियानी मञ्जिल सज्जन और धर्मात्मा मनुष्यों को भी आवागमन के चक्र में फंसाये रखती है छुटकारा नहीं होता। ईश्वर का पूर्ण रूपेण आश्रय लेना अपने आपको, अपने जीवन को, अपने

सकल पुरुषार्थ को उसी प्रभु के आश्रय में बिताने और उसे समर्पण करते जाने से ही मनुष्य यात्री प्रभु कृपा से सब प्रकार के भय से इस प्रकार सुरक्षित हो जाता है जैसे उसने कोई कठिनाई देखी ही नहीं।

मनरूपी विचित्र पाठ्यक्रम का अध्ययन

परन्तु जिस प्रकार सहसा एक महान् पदाधिकारी बननें के लिए किसी को मुकाबिले की परीक्षा में बिठाया जाता है और उस परीक्षा में प्रथम आने के लिए वह अत्यन्त पुरुषार्थ करता है, यहां तक कि उसे अपना कुटुम्ब परिवार, सम्बन्धी, बन्धु, बान्धव, मित्रों के साथ उठना बैठना और अपना विश्राम, आनन्द सब न्यौछावर करके भूल जाना पड़ता है, एक एकांत स्थान में अपने आपको पूरा तैयार करने के लिए उन्हीं पुस्तकों के अध्ययन में ही अपना सारा मन, बुद्धि और बल लगाना पड़ता है, उसी प्रकार इस धाम के यात्री की परीक्षायें भी कठिन से कठिन होती है, जिसके लिए उसे मनरूपी पाठ्यक्रम जिसके पांच विषय है, उसका बड़े ध्यानपूर्वक निरन्तर स्वाध्याय करना पड़ता है, और उसके अति सूक्ष्म और कठिन समस्याओं को जो बीज के समान अनेक जन्मों के अनेक बीज

(संस्कार) संचित किये हुए हैं, समझना और उनका प्रत्यक्ष विध्वंस करना पड़ता है।

—०—

तीसरा धाम
ज्ञान सोपान
– प्रभु के अन्तरीय दर्शन –
आवरण संज्ञक अहंकार का पर्वत
सिद्धि सागर

तीसरा धाम

ज्ञान का सोपान

प्रभु के अन्तरीय दर्शन

आवरण
संज्ञक
अहंकार का पर्वत

विक्षेप संज्ञक कम्पायमान पर्वत

जब दो धाम यात्री कर लेता है, निर्मल और शान्त चित्त, शान्त मन हो जाता है, संसार में उसकी

जय होनें लगती है, उसका यश और बल इतना बढ़ जाता है कि वह अपने में समा नहीं सकता, वह अपनी समझ में जो अभी और धाम करने की इच्छा रखता था, जन साधारण की अति श्लाघा और नाना प्रकार की सिद्धियों के जो उसे प्रभु प्रसाद ही में इन धामों के फल रूप में प्राप्त हो जाती हैं, वह उसी में लिप्त और आसक्त हो जाता है। लोगों में प्रशंसा होने लगती है कि जो आप चाहें, आप समर्थ हैं। भगवान आपका दास है, जैसे कहते हैं, 'भगवान होते चले आए हैं भक्तों के वश में' और कुछ वह कहता है, वही होने लग जाता है और जैसा वह चाहता है उसका संकल्प पूरा हुए बिना नहीं रहता।

ऐसी स्थिति के आधीन जो यात्रा अभी-अभी तीसरे धाम करने की थी उससे वह अब उपेक्षावृत्ति करने लग जाता है और लोगों से स्तुति और अपनी इच्छाओं को सचमुच पूरा होते देखने से सन्तुष्ट हो जाता है कि बस जो होना था हो गया, जो पाना था पा लिया, अब मेरे और भगवन् में कोई भेद नहीं रहा जब ऐसा तप मेरा स्वीकार हो गया और मैं सिद्ध बन गया। जो प्रभु करता है वही मैं भी तुरन्त कर लेता

हूं तो मैं भी ब्रह्म बन गया हूं। तो वह तीसरा धाम जिसका नाम ज्ञान धाम है, जिसके करने से साक्षात् आत्मा की अन्तरात्मा ज्ञान स्वरूप भगवान के दर्शन होते ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है और वहां फिर उसको सर्वसंसार में वही सर्वपरिपूर्ण पूर्णानन्द ब्रह्म के बिना जो जगत में ओत-प्रोत हो रहा है, और कुछ भी भान नहीं होता, वह इससे सदैव के लिए वञ्चित हो जाता है।

इस धाम की यात्रा में जो पर्वत बाधक है, उसका नाम आवरण संज्ञक पर्वत है जिसे अहकार, अन्याभाव अथवा अस्मिता कहते हैं। यही दो धामों के बाद की रुकावट है, जो आत्मा और परमात्मा के मध्य में है। एक नहीं, दो नहीं, सैंकड़ों यात्री जन्म-जन्मान्तर तक परिश्रम करते-करते दो धाम करते हैं और फिर इस अहंकार के परदा से दर्शनों से वंचित रहकर फिर आवागमन में घूमते हैं। चाहे इन यात्रियों का जन्म उत्तम कुलों में हो, राजा-महाराजा बन जायें अथवा कोई और वैभव प्राप्त कर लें परन्तु है तो वह भी चक्र ही, जिससे फिर गिरनें का भय रह ही जाता हैं। भाग्यशाली आगें निकले तो निकले। इसलिए—

कर्म, उपासना और ज्ञान तीन धाम तय करने पड़ते हैं। जो तीसरी मंजिल को तय कर जाते हैं फिर–

'यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये, धामन्यध्यैरयन्त ।'

के अनुसार प्रभु की अमृत गोद में स्वेच्छा पूर्वक विचरते हुए अमृत का भोग पान करते हैं। प्रत्येक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों से अपवित्र और अशुद्ध मल और मन से चंचल राग और द्वेष की जंजीर में फंसा हुआ है और अपनी आत्मा के ऊपर खुदी (अहंकार) का आवरण (परदा) रखता है।

मल, विक्षेप और आवरण दूर करने के कर्म

इन तीनों रुकावटों अर्थात् मल विक्षेप आवरण को हटाने के लिए शुभ कर्म करने चाहिए। परोपकार सेवा के कर्म करने से मल धुल जाती है और प्रभु की चरण-शरण का आश्रय लेकर उस एक की ही उपासना भक्ति करने से विक्षेप अर्थात् मन की चंचलता दूर हो जाती है और ज्ञान की प्राप्ति से अहंकार का आवरण फट जाता है। आत्मा और परमात्मा का भेद, मन और आत्मा का रहस्य, शरीर और मन का वास्तविक सम्बन्ध खुल जाता है।

कवि के शब्दों में—

जिस पर खुल गया राजे पिन्हानी
फिर वह क्या जाने ऐसे सुलतानी।

जिस पर प्रभु का गुप्त भेद प्रकट हो गया वह फिर राज भोग ऐश्वर्य (ऐशों) को क्या समझे ?

ज्ञान—उपासना—कर्म

उपासना का एक विशाल राजमार्ग है जिसका दक्षिण छोर कर्म और वाम छोर ज्ञान है। जो मानव केवल कर्म के छोर पर चलता है, वह बार-बार गिरता है क्योंकि यह केवल छोर ही है और इसकी सीमा अति संकुचित और यात्रा के अयोग्य है, और जो अकेला उपासना रूपी राजमार्ग पर चलता है और छोरों की परवाह नहीं करता, वह सामने आये गये यात्रियों से गिर जाता है और जो केवल ज्ञान के छोर के आश्रित हो चलता है, वह भी गिर जाता है।

कर्मकाण्डी अभिमानी, उपासक लोभी ज्ञानी क्रोधी

अकेला कर्म बिना उपासना और ज्ञान के आचरण करने वाला अभिमानी बन जाता है और अभिमान उसे गिरा देता है। केवल उपासना करने वाला बिना ज्ञान के लोभी बन जाता है, लोभ उसका पतन कर

देता है और कोरे ज्ञान का इच्छुक क्रोध की अग्नि में जलकर भुन जाता है। इसलिए प्रत्येक यात्री को उपासना की विशाल सड़क पर अपना पग रखकर दक्षिण और वाम में कर्म और ज्ञान को साथ-साथ करना चाहिए ताकि उपासना रूपी सड़क की अमृत धूल उड़-उड़कर कर्म पर पड़े तो उसे रंग देवे और ज्ञान पर पड़े तो उसे रंग देवे। ऐसा प्रभु भक्त भक्ति के रंग में रंगा जाता दिखाई देता है।

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ यजु० ३६—१२ ॥

(मनुष्य का अभीष्ट)

हे कल्याणकारी सुखदाता! प्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापक प्रभो! मेरे हृदय की नीरव और तमाच्छादित नगरी में अपना दीपक जलाकर प्रकाश करो। जिस तेरे प्रकाश से मैं तेरी सर्वव्यापकता का हर जगह भान कर सकूं।

मेरे दयालु पिता! बिना तेरी ज्योति के आन्तरिक प्रकाश के मैं तुझे कहीं भी नहीं देख सकता और तेरी सर्व व्यापकता के भान के बिना कभी पापों से नहीं

बच सकता और जब तक मैं पाप ग्रस्त हूं, तब तक मेरा कल्याण असम्भव है।

अमृत वर्षा

भगवान् ! दया के स्रोत भगवान् ! आओ ! मुझ अज्ञानी बालक के ऊपर तरस करो ! अपनी करुणा और अमृत की वर्षा चारों ओर--पूर्व दिशा--मस्तिष्क में अपनी अमृत की वर्षा करो कि जिससे मेरी बुद्धि का ज्ञान बढ़े और तेरे अमृत वारी से सिंचित होकर अमर कर देने वाला फल ला दे।

मेरी दक्षिण दिशा की नाभि में अपना अमृत जल वर्षाओ जिससे प्रत्येक नस नाड़ी में तेरे अमृत का स्रोत प्रवाहित होकर मेरे समस्त शरीर को शान्त कर देवे ! नीरोगता की औषधि बन जावे। शरीर हृष्ट-पुष्ट हो कर सत्कर्म और परोपकार में पुरुषार्थी बने !

मेरी उत्तर दिशा में हृदय को अपनी अमृत वर्षा से ऐसी शान्ति प्रदान करो कि तेरे ही अमृत रस की रसना में निमग्न हो जावे ! तेरे अमृत सागर में ऐसी डुबकी लगाए कि उसे अमृत के बिना अपनी भी सुध-बुध न रहे। तेरी समीपता उपासना से उसे कभी वियोग ही न हो !

प्रभो ! कृपा करो ! मेरी आत्मा, मेरे अन्तः-करण-चतुष्टय, मेरी इन्द्रियों और मेरे शरीर का कल्याण करो। मेरी अभीष्ट आपके दर्शन, आपका साक्षात् करना है। अपनी करुणा की दृष्टि से मेरा मनोरथ पूरा करो।

शारीरिक मानसिक और आत्मिक पापों से बचने के उपाय

शारीरिक इन्द्रियों के पापों से बचने का उपाय

प्रत्येक मनुष्य जब तक प्रभु को सर्वव्यापक नहीं मानता, नहीं जानता, तब तक वह इन्द्रियों के शारीरिक पापों से नहीं बच सकता। जो लोग प्रभु को सर्वव्यापक मानते हैं परन्तु सर्वव्यापक जाना नहीं उनका बचाव पापों से असम्भव तो नहीं परन्तु कठिन अवश्य है। असम्भव का भाव यह है कि बहुत से लोग इन्द्रियों के बाह्य पापों से बचे हुए दिखाई देते हैं और वह लोगों में अच्छी दृष्टि और धर्मात्मा अथवा सद्पुरुषों की स्थिति से देखे जाते हैं चाहे वे प्रभु को मानते हों वा न। परन्तु इसमें अधिक गम्भीर दृष्टि से विचार किया जावे तो यह पाप का बचाव उनका यथार्थ रूप में नहीं होता अपितु किसी कारण निमित्त होता है।

(१) कोई तो पाप इसलिए नहीं करता कि उसके पास साधन पाप करने का नहीं, जैसे चोर के हाथ-पांव बांध दिए जायें तब वह क्रियात्मक रूप से चोरी नहीं कर सकता अथवा उसके यन्त्र उससे छीन लिए जावें तो वह विवश है।

(२) कोई पाप इसलिए नहीं करता कि उसे भय है। उदाहरण रूप में एक व्यक्ति व्यभिचार इसलिए नहीं करता कि समाज की दृष्टि में वह पतित हो जायेगा या कि इस भय में कुल कलङ्कित हो जायेगा अथवा जन-साधारण में निन्दा के भय से वह इस पाप के करने से बचना चाहता है।

(३) कोई राजकीय दण्ड के भय से कारावास की आपत्ति झेलने की शक्ति न रखने के भय से पाप नहीं करता।

(४) कोई व्यक्ति किसी को अप शब्द नहीं कहता, क्रोध में आकर आक्रमण भी नहीं करता इसलिए कि वह स्वयं शरीर से निर्बल है। ताड़ना तर्जना में दूसरे के जूते नहीं सह सकेगा। सुतराम अनेक प्रकार के पापों से मनुष्य अपने जीवन को बचा सकता है परन्तु किसी बाह्य निमित्त से। वास्तविक निमित्त

जिससे उसकी आत्मा पाप से बचने की इच्छा कर सकती है वह केवल और केवल एक प्रभु की सर्वव्यापकता के जानने से ही हो सकती है।

यदि एक धनी यह कहे कि मुझे आवश्यकता ही क्या है कि मैं चोरी करूं तो उसका यह भाव कदापि नहीं कि वह चोरी को पाप के कारण से नहीं करना चाहता अपितु वह तो आवश्यकता ही नहीं समझता कि चोरी करे क्योंकि उसके पास धन है। यदि कभी उसके पास धन न रहे व न होता तो सम्भव था कि वह चोरी कर लेता और अपनी आवश्यकता को जिसकी धन की विद्यमानता में जरूरत नहीं समझता पूरा कर लेता। शतशः ऐसे व्यक्ति देखे जाते है जो धनाढ्य हैं परन्तु म्युनिसीपल कमेटी के कर की चोरी प्रतिदिन करते हैं। हालाँकि दो चार पाई का कर उनको अपनी वस्तु के बदले देना पड़ता है, परन्तु वह अपने प्रभाव दबाव अथवा असत्य बोल कर अपना विश्वास दिखा कर उसकी अदायगी से बचना चाहते हैं। अथवा रेल यात्रा करते समय अपने पास नियम से अधिक भार का तोल नहीं कराते और गाड़ी में बैठे उसे ऊपर-नीचे पृथक-पृथक बिखेर कर छिपाकर रखते

की कोशिश करते हैं अथवा समय आने पर अपना दूसरा संगी बना लेने की इच्छा करते हैं जिसके पास सामान कम हो अथवा न हो। कभी-कभी बड़े सुशिक्षित, सभ्य, धनी-मानी और पठितगण अपनी बुद्धि और चतुराई से इस पाप को यों कर लेते हैं कि अपने बिस्तरों के अन्दर, अपनी जेबों के अन्दर बहुत भाग सामान तथा वस्तुओं का जो उनमें जा सकता है, घुसेड़ देते हैं और अपने ज्ञान में वह उसे पाप नहीं समझते कि हमने चोरी की हालांकि भय से स्पष्ट चोरी करने के सब साधन बरते। जितने भी पाप संसार में कर्म के रूप में होते हैं उनका तथ्य कारण प्रभु सर्वव्यापकता का अज्ञान है।

मानसिक पापों से बचने का उपाय

दूसरा पाप है मानसिक। कोई मनुष्य इस पाप से नहीं बच सकता जबकि वह प्रभु को सर्व अन्तर्यामी न जाने। कहने को तो कोटि मनुष्य कहते हैं कि प्रभु सर्वान्तर्यामी है। वह सब अन्तर की होने वाली क्रियाओं अथवा संकल्पों का साक्षी है। परन्तु मानव चाहे क्रिया में पाप न करे, लोगों में अच्छा सज्जन और धर्मात्मा प्रसिद्ध हुआ रहे, परन्तु प्रभु की दृष्टि में वह न सज्जन

है न धर्मात्मा, क्योंकि मन के अन्दर जो पापों के संस्कार उठ-उठकर अथवा रात्री को स्वप्न की सूरत में जो पाप मनुष्य करता है उसका साक्षी केवल उसकी अपनी आत्मा और परमात्मा ही है। न लोगों के सम्मुख पाप हुआ न लोगों से कोई भय रहा परन्तु ईश्वर की दृष्टि में तो वह यह कहता हुआ भी, कि प्रभु सर्व अन्तर्यामी है मेरे सब संकल्पों को देखता है तो गोया उसका निरादर करता है, इसलिए यह प्रभु के दरबार से निंदित कर्म का फल जरूर भोगेगा।

निस्सन्देह बहुत से लोग ऐसे भी हैं कि जन्म-जन्मान्तरों के पापों के बीज जमा होने से उनके मन में वह पापों के कुसंस्कार उठते हैं और वह बेचारे बड़े व्याकुल हो जाते हैं। उसी क्षण अनुभव करते हैं और उनको दबा लेते हैं। प्रभु के दरबार में सहायता की पुकार करते हैं, जार-जार रोते हैं और उन कुसंस्कारों को दग्ध करने के लिए प्रार्थना करते हैं, प्रायश्चित करते हैं कि किसी प्रकार उनको छुटकारा मिले।

ऐसे लोगों को प्रभु के सर्व अन्तर्यामी होने का भान होता है परन्तु २४ घण्टे वे अपने ज्ञान के अन्दर टिका नहीं सकते, इसलिए मन जब ही ऐसा अवसर

पाता है अपना खेल शुरू करने लग जाता है और रोकने पर कभी तुरन्त रुक जाता है और कभी-कभी उस ईश्वर की सर्वान्तर्यामिता का भय दिखाने पर भी नहीं रुकता, तब व्याकुल कर देता है और साधक मनुष्य को जार-जार रुलाता है जिस पर फिर प्रभु अपनी दया से उसकी व्याकुलता को दूर करते और मन को शांत करते हैं।

इसे चौबीस घण्टे न टिका सकने का कारण भी वही एक है कि मनुष्य ने एक प्रभु को सर्वव्यापक अभी पूरा नहीं जाना। जब कोई सर्व जाव लेता है तो चौबीस घण्टे पर्यन्त अन्दर बाहर जरा-जरा अणु परमाणु में जब वह प्रभु की विद्यमानता देखता है तो मन उससे बाहर नहीं क्योंकि वह अणु है और यद्यपि अन्दर है तो प्रभु भी उसमें व्याप रहे हैं।

जो मनुष्य मानसिक पापों को उठने देता है और उनमें हर्षित भी होता है तो यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार वह व्याकुलता के कुसंस्कार की जड़ उखाड़ने के लिए प्रभु सहायता, प्रभु आश्रय, प्रभु प्रार्थना को कुल्हाड़ा बना कर प्रयोग करता है उसी प्रकार यह हर्ष भी उन बीजों को पानी देकर उगाने, बढाने और

एक दिन क्रियात्मक रूप में पाप के पेड़ों को प्रकट करके उसके फल का स्वाद चखाने वाला बन जाएगा, क्योंकि प्रत्येक क्रियात्मक पाप इसी कोष से उत्पन्न हुआ करता है।

आत्मिक पापों से बचाव का उपाय

तीसरा पाप है अभिमान, अहंकार, अस्मिता का। इससे वही विरला भाग्यवान् बचता है जो प्रभु को सर्वज्ञ मानकर जान लेता है। जिस व्यक्ति ने अपने प्रभु को सर्वज्ञ नहीं जाना। वह अपने आपको सर्वज्ञ समझने लग जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको बुद्धिमान समझता है। केवल समझता ही नहीं अपितु अपने समान अन्य किसी को बुद्धिमान नहीं जानता। उक्ति प्रसिद्ध है कि 'अपनी बुद्धि और पराया धन' हर एक को ज्यादा प्रतीत होता है। फारसी के एक कवि महोदय ने कहा है—

हर कसरा हुनरे खुद बकमाल, व फरजन्दे खुद बजमाले बेहतर नजर मे आयद ।। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपना गुण महान और अपना पुत्र अति रूपवान प्रतीत होता है।

इस सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का सम्बन्ध पर-

मात्मा और आत्मा से है । जब आत्मा अपने को सर्वज्ञ मान लेती है तो नियमानुसार जब दो ही वस्तुएं दो ही गुण हैं, एक ने एक ले ली दूसरी दूसरे के वास्ते छूट गई, इसलिए बाकी अल्पज्ञता परमात्मा के लिए रह जाती है जो सर्वज्ञ है ।

कोई आदमी किसी के सामने अपनी बड़ाई तब ही कर सकता है जो सामने वाला छोटा हो । कोई व्यक्ति अपना प्रभाव वहां ही दिखा सकता है जहां उससे बलहीन उसके सामने हो, कोई व्यक्ति अनुचित कार्य तभी कर सकता है जब वह सामने वाले को असमर्थ जानता है इसी प्रकार आत्मा अभिमान में आकर परमात्मा को सर्व-प्रकार से भूल जाता है और बेपरवाह हो जाता है ।

यह कोई ऐसी घुट्टी है, जिस समाज में जाओ, जिस सभा में देखो, जिस जाति वा परिवार कुल को लो, इसी को हर समय पी रही है । एक चण्डाल (भंगी) भी नगर के बड़े धनी मानी की गलती निकाल कर अपनी मति को बढ़िया समझ रहा है । एक साधारण पदाधिकारी वा चपरासी भी उच्च से उच्च पदाधिकारी की अयोग्यता को अनुभव करके अपने प्रस्ताव को उससे श्रेष्ठ मान रहा है । एक साधारण अभियुक्त

महान् से महान् विधायक, बुद्धिमान, परामर्श दाताओं और विधान निर्माताओं पर अपनी सूझ को श्रेष्ठ और अनुकरणीय समझी जाना चाहता है। एक अनपढ़ जाट सम्राट की शासन प्रणाली जो अपनी घृणा की दृष्टि से देखकर उसमें अपनी निर्मित्त मति को श्रेष्ठ समझता है। यह तो हुआ मनुष्य का मनुष्य जाति के वृतांत।

कतिपय व्यक्ति तो परमात्मा की भूलें निकालने से भी नहीं चूकते और तब तक मनुष्य को सर्वज्ञता का ज्ञान और भान नहीं होता, तब तक मनुष्य की आत्मा उस प्रभु को सर्वव्यापक और सर्वान्तिर्यामी न समझे न जावें। जब उसे यथार्थ निश्चय हो जाए कि सर्वज्ञ वही हो सकता है जो सर्वव्यापक है। जो जहां है ही नहीं, वहां को कैसे जान सकता है। आत्मा जब एक शरीर के अन्दर है तो वह कैसे दूसरे शरीर के अन्दर को जान सकती है। यद्यपि मनुष्य का मन बहुत तीव्र गति वाला है जो सकेंडों में संसार का चक्र लगा सकता है परन्तु जिस समय जहां पहुंचेगा उस समय तो हर हाल में दूसरी जगह से अनुपस्थित ही होगा। इसमें यह संदेह नहीं कि योगी एक समय में बहुत जगह का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु वह भी सीमित रूप में, असीमित नहीं क्योंकि—

प्रथम तो वह स्वयं सीमित है।

द्वितीय जिन साधनों से उसे ज्ञान होता है, वह भी सीमित ही हैं।

तृतीय सबसे बड़ी यह बात है कि योगी को ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, इसलिए वह पराधीन है और प्रभु को ज्ञान प्राप्त नहीं करना पड़ता। अपितु वह प्राप्त का स्वामी है। योगी प्रभु के सब गुणों को प्राप्त कर सकता है परन्तु सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ तथा सृष्टि का कर्त्ता नहीं बन सकता। यह चारों गुण एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, जो प्रभु की अपनी जात से, निज अस्तित्व से, आदि से अन्त तक बिना परिवर्तन काल की अवधि तक सम्बन्ध रखते हैं।

इसलिए हे करुणानिधान, महिमा महान् प्रभो! दया करो, कृपा करो, हमें बल दो कि हम तेरी ओर अपना पग बढ़ाएं। हमें बुद्धि दो कि उससे सत्य मार्ग पर चलें। जिस पर तू अपनी करुणा दृष्टि डालता है, वही तेरे पथ पर चल सकता है। हमें अपनी सर्वव्यापकता का भान पूरी रीति से कराओ कि हम संसार के पापों से छुटकारा पायें और विश्व प्रेम से तुम प्रेम स्वरूप की अमृत गोद में विश्राम पायें।

प्रभु दर्शन के लिए विशुद्ध सत्य की आवश्यकता

ओ३म् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ।

हे सत्य स्वरूप प्रभो ! स्वयम्भू, मुक्त स्वभाव स्वावलम्ब प्रभो ! आप ही एक मात्र सत्य हो, सब संसार असार है । आपका ही ज्ञान सत्य और आपकी ही विद्या सत्य है, शेष सब ज्ञान और विद्यायें मिथ्या हैं । सर्वकाल, सर्वयुग, सर्वकल्प और हर हाल में आप वर्तमान ही हो और सब जगत् परिणाम रूप है । आप एक रस हो और प्रकृति में तो विकृति बनी रहती है । मुझे अपनी अपार दया से सत्यविद्या और अपना सत्य ज्ञान प्रदान करो ।

आप यश के स्रोत हो, मुझे भी अपने स्रोत से अधिक नहीं तो एक चुल्लू ही सही, यश प्रदान करो ।

आपसे सारे संसार को शोभा मिल रही है, आप शोभायमान हो, मुझे भी अपनी शोभा से विशेष कृतार्थ करो । आप सर्व ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति के स्वामी हो, मुझे भी अपनी सम्पत्ति और उसके व्यय शिक्षा प्राप्त कराओ, ताकि तेरे गुणों से मैं (तेरी प्रजा) गुणवान् होकर संसार में अपना जीवन सफल कर सकूं ।

सत्य और न्याय

ब्रह्माण्ड जिस आश्रय स्थिति है वह सत्य ही है। ईश्वरी शासन जितना भी चर व अचर, जगम और स्थावर में चल रहा है उसका केन्द्र केवल सत्य ही है। सत्य और न्याय एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं, न्याय ईश्वर का स्वाभाविक गुण है और दया भी वह दोनों गुण वास्तव में एक दूसरे पर अवलम्बित हैं परन्तु संसार में इन दोनों को पारस्परिक विरोधी देखा जाने से सत्य का लोप हो जाने से दुःख की मात्रा बढ़ गई है और 'नानक, दुखिया सब संसार' की दुहाई मच गई है। परमात्मन् देव सत्य स्वरूप' हैं अतः उसके दर्शन करने के लिए जब तक मनुष्य सत्य का साक्षात् न कर सकेगा तब तक ईश्वर दर्शन से वंचित रहेगा।

सब गुणों का बीज

सत्य एक वस्तु है जो सब गुणों का एक प्रकार का बीज है, जिस व्यक्ति में यह गुण आ जावे तो सर्व-गुण अपने आप उसमें खिचे आते हैं और सब गुणों के आ जाने से गुणों के स्वामी गुणी प्रभुदेव अनायास अपनी दया स्वभाववश होकर स्वयं भक्त को अपने दर्शनों से कृत-कृत्य करते हैं। जिस प्रकार रात्रि संसार

भर के सब श्रान्त प्राणियों को (क्या हाथी क्या मनुष्य आदि) अपनी गोद में लेकर अपना शीतल परदा डाल कर मधुर निद्रा की लोरी देती है और रात भर अपनी घोर और सच्ची तपस्या से और सच्ची भावना से सब प्राणियों को विश्राम और सुख देने का परोपकार करती है तो उसकी इस सच्ची तपस्या और सच्चे परोपकार के बदले में प्रभु अनायास उसकी कालिमा और तिमिरता को दूर करके प्रभात तक पहुंचा देते हैं। जिससे सबने विश्राम पाया। प्राणी बड़े उत्सुकता के साथ रात्रि के उपकार का गुणगान करते प्रभु के दरबार में स्तुति और धन्यवाद गाने लगते हैं तो प्रभु बिना किसी इच्छा अथवा अनुनय के उसी प्रभात से सूर्यनारायण के प्रकाश से समस्त संसार को प्रकाशित और प्रदीप्त कर देते हैं। ठीक इसी प्रकार सत्य बाधक को बड़ी सच्ची तपस्या और परोपकार के जीवन को प्राप्त कराके प्रेम और दया के प्रभात तक पहुंचा देताहै जहां दया सागर प्रभु अपने अन्दर उसे स्नान कराकर प्रेम की अमृतमयी गोदी में ले लेते हैं। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा के बीच सत्य का नियम चल रहा है और राजा और प्रजा के

बीच अथवा न्यायालय और अभियोक्ता (फर्यादी) के बीच सत्य ही एक रक्षक-विधान है अथवा स्त्री और पुरुष के बीच सत्य की गांठ बन्धन का सम्बन्ध है जिस प्रकार 'गुरु' ज्ञान और चेला 'सत्य' का बड़ा विचित्र सम्बन्ध है। इसी प्रकार इस शरीर और मन का, मन और आत्मा का, आत्मा और परमात्मा का, सम्बन्ध भी बिना सत्य के हानिकारक और सत्य सहित लाभदायक और सुखदायक होता है, सत्य से ही मन शुद्ध होता है। कोई गुण संसार का ऐसा नहीं जो मन को शुद्ध कर सके बिना सत्य के। (मनु महाराज ने कहा 'मनः सत्येन शुध्यति') और आत्मा नहीं पा सकता परमात्मा को बिना मन के साधन (वसीला) के शरीर कभी निरोग अवस्था को नहीं रख सकता जब तक मन सत्यता से इसकी रक्षा नहीं करता।

दस मंजिला भवन (धर्म) की नींव

जब भी शरीर में कोई दोष आता है यह मनकी सत्य अवस्था के त्याग से ही आता है। सत्य मानो एक बड़े भवन की जिसकी दस मंजिलें हैं, नींव है। जिस भवन की नींव जितनी गहरी विशाल और सुदृढ़ और सुरक्षित होगी उसकी ऊपर मंजिल भी सुरक्षित होगी

और जिस भवन की नींव ही कमजोर होगी तो ऊपर के भवन अथवा मंजिलों में चाहे पत्थर की ईंट व सुन्दर रंगों से युक्त और सुगठित (तराशीदा) समान चुनाई क्यों न बनी हो, वह क्षीण हो ही जायेगी और भय से कभी सुरक्षित न होगी।

आत्मा का सत्य से प्रेम

संसार में कोई मनुष्य चाहे वह धनी है अर्थात् निर्धन छोटा हो अथवा बड़ा, मूर्ख हो वा विद्वान और किसी भी जाति अथवा वर्ण का क्यों न हो, अपने आप को सच्चा समझता है और यदि कोई उसे झूठा कहे या झूठ का कलंक लगावे तो वह उसके लिए असह्य हो जाता है इससे प्रतीत होता है कि सत्य का किसी जाति विशेष अथवा पठित, अपठित, दरिद्र और धनी से लगाओ नहीं परन्तु मानव मात्रमें जो एक ही प्रकार की वस्तु है उसी का प्यार है, वह मनुष्य में रहने वाली आत्मा हैं।

यदि जाति पर होता तो एक शूद्र वा चण्डाल सच्चा न कहला सकता, अथवा अपने झूठे होनें के लांछन को सह लेता, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता, अतः

यह एक आत्मा ही है जो अपने आप को सदा सच्चा कहलवाना और सुनाना चाहती है।

वास्तविक सत्य का ग्राहक

ऐसा होते हुए भी इस अमूल्य वस्तु का ग्राहक जो इसे पूरे दामों पर लेने को तैयार हो कोई विरला ही मिलेगा। इस मार्केट में ग्राहक जाते भी हैं तो भी हाथ लगा तमाशा देख वापिस चले आते हैं जिसने खरीदा मुलामा (कृत्रिम) सत्य खरीदा, वास्तविक सत्य को हाथ लगाते ही मूल्य पूछते ही दिल बदल गया जैसे मैं यह जानकर अथवा सुनकर कि शरीर की त्वचा अथवा चर्म की खुजली समुद्र में स्नान करने से तुरन्त लोप हो जाती है और मैं इस रोग का रोगी कोई औषधि उपयुक्त न देखकर समुद्र पर जाने की तैयारी कर लूं और चलता-चलता बड़े उत्साह तथा आशा में समुद्र के तट पर पहुँच गया, समुद्र बड़े वेग से ठाठें मार रहा है उसकी ध्वनि भी भयानक प्रतीत होती है उससे भी भयभीत न होकर किंवा यह जानकर कि ठाठ पानी के वेग की है मेरे ऊपर कोई प्रहार तो नहीं खड़ा रहूँ, डटकर और तरंगों को अपनी ओर आता देखकर हर्षित हो जाऊं कि अभी यहां पानी आया और

मैं स्नान कर लूंगा और जब तरंगें बड़े वेग के साथ दौड़ती-दौड़ती उछाली के रूप में किनारे लगीं तो मैं भय से पीछे भाग जाऊं कि कहीं समुद्र मुझे न ले डूबे और इसी आन की आन में वह जल अपनी उछाली देता हुआ फिर बड़े वेग के साथ पीछे हट रहा है और में फिर दौड़कर उसी किनारे आ गया कि अब कि बार यद्यपि बीच में एक पग धरने का साहस नहीं पड़ता परन्तु लोटा तो जरूर भर लूंगा और इसी से कई बार भर-भर कर बाहर स्नान कर लूंगा, मेरा लक्ष्य तो खुजली दूर करने का है समुद्र के जल से नहाना है ना कि समुद्र में कूदना शर्त है। अब जबकि वह तरंगें कूदती-फांदती उछाली देने लगी तो वे पहले से और ज्यादा आगे आ गई और में फिर भी भय से और पीछे भाग गया, मेरा साहस ही न हुआ चाहे सारा दिन बीत गया, परन्तु वहां पर खड़ा रहने से उसकी वायु मात्र से जो मेरे शरीर को स्पर्श करती रही मेरा खुजली का रोग दूर हो गया और मैं उसी में ही अपने आपको भाग्यवान समझने लगा और जनता में प्रसिद्ध हो गया कि अमुक व्यक्ति समुद्र का स्नान करके अपने रोग से मुक्त हो गया।

नाम मात्र सत्य

यही अवस्था ठीक मुझ सत्य के पुजारी की है। मैं अपने आप को सच्चा समझता रहा और जनता में भी मेरी सच्चाई का विश्वास था परन्तु कभी कोई भूल से वा परीक्षा से अथवा संदेह से न जानकर मेरी बात को सच न जाने अथवा न मानने लगें तो मुझे मन मैं बड़ा क्रोध होता, चाहे मुंह पर उसे न कहता परन्तु आज जब मैं अपनी अवस्था की तुलना करता हूं तो अपनी अवस्था सत्य की उस समुद्र की केवल वायु मात्र के स्पर्श की ही पाता हूं, इससे तिल भर अधिक नहीं, ऐसे ही संसार के लोगों में सत्य की अवस्था पाई जाती है। पूर्ण सत्य शुद्ध सत्य का पुजारी बिरला है, हाँ पाद पुच्छ (कुछ न कुछ) सत्य की डाली, शाखा पत्ते, फल छाल एक-२ अंग के भी किसी रंग की हर एक व्यक्ति मे अवश्य पकड़ा हुआ है वरन् ससार स्थित न रहता।

स्वार्थी पूर्ण सत्य से कोसों दूर है

क्योंकि नींव सत्य है और संसार अपनी क्रिया करते निरन्तर दिखाई देता है, अतः यही अनुमान होता है कि सत्य अब बिखरे हुए रूप में होता है, एक स्थान पर नहीं। वर्तमान युग की जनता ने सत्य को केवल

वाणी का ही विषय मान रखा है। जो व्यक्ति वाणी से एक बात कहता है दूसरी बात बदल कर नहीं कहता तो उसे सत्यवादी कहने लग जाते हैं और उसका विश्वास हर समाज और दरबार में मान के साथ होता है। एक दुकानदार ने बोर्ड लगा दिया 'सच्ची दुकान, एक जबान'' इसी नियम की ओट में दुकानदार पूर्ण रीति से डटकर चला, लोगों ने परीक्षा भी की और वह पूरा उतरा, इससे उसकी दुकान ऐसी चमकी कि लोगों ने बिना किसी पूछताछ के पूरे विश्वास से अपने आपको उसी दुकान का ग्राहक बना दिया और वह दुकानदार इस नियम को स्थापित करके धनवान तो बन गया परन्तु उसकी आत्मा के ऊपर इसका प्रभाव सत्य के रूप में न पड़ सका, कारण यह है कि अब वस्तु के दाम महंगे बटोरने लगा जब उसने दुकान खोलकर बोर्ड लगाया था तब वास्तविक ज्ञान से तो अनभिज्ञ था। यही जानकर कि सच्ची दुकान वही होती है जो एक भाव बताए, घटावे बढ़ावे नहीं और वह वस्तु को उचित लाभ के साथ बेचने लगा, जब धन्धा बढ़ गया चूंकि उसने सत्य को अपने आत्मा की उन्नति का साधन न बनाया था अपितु धन की उन्नति

का साधन बनाया था। इस साधन का नाम लोभ व स्वार्थ है उस स्वार्थ अथवा लोभ ने शनैः-शनैः अपना स्थान दृढ़ करना था सो उसने अब विश्वास के ऊपर कि लोग अब मुझ से कुछ पूछ ताछ नहीं करते वस्तुओं के मूल्य बढ़ाकर नियत कर रक्खे थे। फिर भी ग्राहक लेते रहे कुछ काल पश्चात् जब किसी एक नें मुकाबला किया तो पता चला कि अन्य दुकानदारों की अपेक्षा यह मूल्य बहुत अधिक है यह तो लूट है अब इस दुकानदार को अपनी वाणी की सच्चाई सिद्ध करनें के लिए एक पाप घड़ना पड़ा अर्थात् जो बीजक उस माल का जहां से वह माल आया उन लोगों के द्वारा ही उन की लेखनी से प्रब व्यय आदि डाल और वास्तविक मूल्य का रूप देकर उस पर और लाभ लगाकर बीजक को ग्राहकों के सम्मुख पेश करनें लगा इससे वह अपने असत्य को सत्य का स्थान देने लगा। ऐसे दुकानदार सच्चे बहुत हैं जिनका अभिप्राय सत्य से प्रमार्थ नहीं बल्कि स्वार्थ सिद्धि है। जब तक सत्य को परमार्थ की वस्तु न समझा जावे तब तक वह असत्य ही है या पूरा सत्य नहीं अथवा मिश्रित सत्य है, जैसे कोई व्यक्ति अपनी स्त्री को इस भाव से स्त्री न जाने कि वह मेरी

सह-धर्मिणी है मुझे धर्म के मार्ग पर सहायता देने वाली है वा मेरे वश वृद्धि का साधन रूप है अपितु अपने विषय-पूर्ति के लिए उसे स्त्री जानें और उसमें आसक्त होते हुए भी अपने आप को सदाचारी और धर्मात्मा मानने लग जाये यद्यपि वह शास्त्र की नीति से व्यभिचार है। विधान के अनुसार तो उसे पाप नहीं लगता है परन्तु आचार तथा आध्यात्मिक रूप से तो वह वैसा ही पापी है जैसा पर स्त्री से व्यभिचार करता हुआ पकड़े जाने पर विधान का पापी होता है इसी प्रकार यह सत्य का आचरण विधान की दृष्टि से तो दोष नहीं परन्तु लूट की भावना का दोष आचार और आध्यात्मिक रूप में इसके बराबर से भी कहीं अधिक है।

सत्य न केवल वाणी से परन्तु मन और कर्म से भी

अतः जो सत्य का पुजारी है और जिसे ईश्वर प्राप्ति की चाह है उसे सत्यवादी होने के अतिरिक्त सत्यमानी और सत्यकारी होना आवश्यक है। कई व्यक्ति व्यवहार में तो सत्य बोलना बहुत कठिन बल्कि असम्भव समझते हैं परन्तु न्यायालय में मिथ्या साक्षी देना महापाप है और कई व्यक्ति साधारण बात-चीत

में तो सत्य को सम्मुख रखते हैं परन्तु ऐसा असत्य भाषण जिससे वे यह समझते हैं कि लाभ होता है, बोल देने से पाप नहीं समझते हैं और कई व्यक्ति तीर्थ-यात्रा में एकादशी, पूर्णमाशी अथवा नवमी आदि के दिन मिथ्या भाषण करना पाप समझ कर नहीं बोलते, इसके आगे पीछे अपने लिए मिथ्या भाषण की खुली छुट्टी समझते हैं और जिसनें भी सत्य बोलनें का प्रण किया है उसनें सत्य के वास्तविक महत्व अथवा महात्तम को नहीं समझा कि वास्तव में आत्मा को परमात्मा से मिलानें का साधन है अपितु इसे अपनें मान प्रतिष्ठा अथवा कमाई का ही साधन मानकर अपनाया है वह भी केवल वाणी के लिए।

स्थाई तथा अविनाशी प्रकाश

वरन् यह सत्य का पथ एक ऐसी टार्च है जिसका बिना बटन दबाये प्रतिक्षण ऐसा प्रकाश रहता है कि सूर्य तो कई घन्टों के लिए हमारी आंख से ओझल भी हो जाता है परन्तु यह प्रकाश सृष्टि के अन्त तक साथ रहता है या यूं कह सकते हैं कि सदैव तक साथ रहता है। सूर्य के प्रकाश में मनुष्य यद्यपि प्रायः निर्भय तो रहता ही है परन्तु हिंस्र और जबरदस्त से

उसका बचाव तब भी नहीं हो सकता और इस प्रकाश में तो हिंस्र और जबरदस्त तो क्या यहां किसी के मन में उसके विरुद्ध बुराई पैदा हो ही नहीं सकती। यह ऐसा यन्त्र है कि बड़े-बड़े धीर-पुरुष भी इस सत्य से गिर जाते हैं। कभी अहंकार में आकर मनुष्य न्यूनाधिक बात करके अपनी आत्मा को गिरा बैठता है, कभी-कभी क्रोध में आकर मुख से मिथ्या कह देता है और कभी लोभ में आकर झूठ बोल देता है।

सब बुराईयों की एक औषधि

लोभ और सत्य का तो खासा अनादि काल से ही वैर चला आता है। कभी मोह वश मनुष्य अपने किसी प्रिय बन्धु के लिए विवश होकर स्वयं नहीं तो अन्य किसी झूठी सहायता से उसका बचाव करता है। काम में अन्धा आदमी तो सत्य क्या बोलेगा।

सत्य एक ऐसा द्वारपाल है कि किसी भी पाप को पास नहीं फटकने देता जबकि मनुष्य ने उसे यथार्थ रूप से आत्मा का स्वरूप जानने के लिए धारण किया हो। सत्य बोलने के अतिरिक्त जो सच्ची है उसे ग्रहण करने में, मानने में एक क्षण ही नहीं लगता और जो बुरी अथवा मिथ्या है उसके त्यागने में, सुनने

मात्र से ही त्याग कर देता है और सत्य कर्म के आचरण में अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करता और प्रभु को सदा सत्य स्वप्न का लक्ष्य रख कर अपने सामने जाग्रत हो या स्वप्न, घर हो या बाहर, सम्पत्ति में हो या विपत्ति में अगवा बनाये रखता है। जिसने सत्य के विशुद्ध स्वरूप को अपनाया उसमें स्मृति तीव्र हो गई क्योंकि जिसकी स्मृति नहीं मानो वह सत्य बोलने में अवश्य भूल कर जायेगा।

स्मृति का आधार वीर्य रक्षा पर निर्भर है निर्वीर्य लोगों की स्मृति नष्ट हो जाया करती है अतः वीर्य रक्षा तब ही होगी जब ब्रह्मचर्य का पालन किया करेगा। जो ब्रह्मचर्य का पालन करेगा, वह काम के प्रहार से सुरक्षित हो जायेगा। सत्य का पुजारी अभिमान नहीं कर सकता क्योंकि अभिमान अपने यश को सुनने की खातिर किया जाता है और इसमें सत्यता नहीं रहती, अतः अभिमान अहंकार का त्याग करने से उसमें नम्रता तथा श्रद्धा घर कर लेती है। जिसमें अहंकार नहीं और नम्रता है, वहां क्रोध का काम ही क्या ? क्योंकि सत्यवादी में सहन-शक्ति हो जाती है और क्रोधी में असहन शक्ति से बुद्धि और ज्ञान का

नाश हो जाता है, चोरी व हिंसा तो सत्यवादी मनुष्य कैसे करके अपने आपको कलंकित वा दुःख में डालना पसन्द कर सकता है। जब लोभ न होगा तो संतोष हाथ जोड़े आगे उपस्थित होगा। सत्य का नाम ही तप है। "सत्यं परं तपः" और कहा भी जाता है "सत्य बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।"

विशुद्ध सत्य की कसौटी

तप का भी वह पुतला बन जाता है और सत्यवादी व्यक्ति को निरन्तर अपने अन्तरात्मा, मन और संसार की आत्माओं का प्रतिक्षण स्वाध्याय करना पड़ता है। यह उसका आत्म स्वाध्याय है। और ईश्वर का पूर्ण विश्वास किये बिना और अपने आपको प्रभु पर निर्भर रखे बिना तो सत्य टिक ही नहीं सकता, क्योंकि सत्य का आश्रय दाता भगवान् आप ही तो है, इसकी अर्थात् विशुद्ध सत्य की परखने की कसौटी यह है कि यह विषय वाणी का है वाणी अनुवादिका है मन की, इसलिए इसका वास्तविक स्थान मन है। मन और वाणी का संयम करने से इसकी परख पूरी हो सकती है।

विशुद्ध सत्य का साक्षात्

(१) जो व्यक्ति बहुत बोलता है।

(२) जो दूसरों की बात में अनाधिकार हस्तक्षेप करता है।

(३) जो अपने से बात करने वाले की बात को पूरा न होने देने से पहले बीच में बोल पड़ता है।

(४) जो किसी बात को सुनते ही आग बबूला हो जाता है, चिढ़ता है। आवेश में आ जाता है।

(५) जो कठोरता से बोलता है।

(६) जो पराई निन्दा सुनने में प्रसन्न होता है।

(७) जो अपनी निन्दा सुनकर क्रोधित हो जाता है।

(८) जो दूसरों की उन्नति देख कर ईर्ष्या करता है।

(९) जो दिल बहलाने के लिए दुविध बात करता है उसका व्यर्थ विनोद करता है।

(१०) जो अपनी बात को शकिया (संशयास्पद) अथवा मशरुत तर्ज से (शर्त लगाकर) बयान करता है।

(११) जो प्रत्येक मामले में कुतर्क उठाता है।

(१२) जो किसी भी स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी की खुशामद करता है।

(१३) जो किसी की परीक्षा के भाव से अपनी आत्मा के विरुद्ध पेचीदा वाणी से बर्तता है ।

(१४) जो अपनी महिमा तथा यश सुनने के लिए दम्भ से अपनी लघुता प्रगट करता है ।

(१५) जो वाद-विवाद संवाद में अपने जय के भाव से अथवा दूसरे को नीचा दिखाने के भाव से प्रकरण से बाहर अथवा मनघड़न्त अर्थ लगा कर लाभ उठाता है ।

(१६) जिसका खाने-पीने में कोई नियम नहीं अपितु पशु की भांति खाता-पीता रहता है ।

(१७) जो खाना भूख के बिना खाता है अथवा स्वाद के लिये खाता है ।

(१८) जो भोजन स्वादी मसालों से, खटाईयों से बनाकर खाता है ।

(१९) जो स्वादिष्ट पदार्थ मिलाने पर अधिक खाता है ।

(२०) जो दूसरे के घर से अच्छा भोजन खाने के लिए लालसा बनाए रखता है ।

(२१) जो भोजन खाने खिलाने में कृपणता करता है ।

(२२) जिसका आहार अपने काम की मर्यादा से अधिक है।

(२३) जो मादक द्रव्य का सेवन करता है।

(२४) जिसके मन में अपने अथवा किसी दूसरे प्रिय के मोहवश प्रतिकार लेने की भावना रहती है।

(२५) जो बिना आवश्यकता किसी चीज के प्राप्त करने में परिश्रम करता है।

(२६) जिसका मन दूसरे की सहायता लेने का इच्छुक रहता है।

(२७) जिसके मन में विषयों की स्मृति से तरंगें उठती हैं।

(२८) जो विकल्प संकल्प से वायु दुर्ग (हवाई किले) का निर्माण करता रहता है।

इन बातों में से काई भी द्वेष किसी सत्य के पुजारी में होगा वह विशुद्ध सत्य का साक्षात् न कर सकेगा। बेशक ऐसे कोई भी दोष रखने वाला वाणी से सत्यवादी हो सकता है और उसी की बरकत से बड़े-बड़े पापों से भी क्रियात्मक रूप में बचा रह सकता है बल्कि बचा रहता चाहे वह अपने मत के लिए

सत्यवादी है, चाहे अपने यज्ञ और बुजुर्गों की स्थापना के लिए सच्चा है। सिवाय दुकानदाराना सत्य के बाकी हर तरह से सत्य का पुजारी संसार में पापों से मुक्त रहकर धर्मात्मा और अपने यश का भागी बना रहता है।

केवल मधुर सत्य

यद्यपि उसे आत्मा का साक्षात् नहीं भी होता तथापि भावी जन्म के लिये उसका मार्ग बहुत खुल जाता है परन्तु कठोर और दुःखदायी सत्य बोलने वाले के लिए, सत्य का मार्ग और भी संकीर्ण हो जाता है क्योंकि शास्त्रकार भी कहते हैं—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ना ब्रूयात् सत्यमप्रियं ॥"

अर्थात् सच बोलो मीठा बोलो ऐसा सत्य मत बोलो जो कटु हो। परन्तु हर मनुष्य का आदर्श व लक्ष्य सत्य के स्वरूप परमात्मा के दर्शन के लिये सत्य का पुजारी बनना सबसे ऊंची श्रेणी है इसलिए हे दयालु प्रभो! हमें सत्य का पुजारी बनाओ। यश, शोभा और सम्पत्ति को जो असत्य से प्राप्त होने वाली हो उसे स्पर्श तक न करें और जो सत्य से एक पाई की सम्पत्ति और साधारण शोभा और यश प्राप्त हो

वही पर्याप्त समझें और यश, शोभा सम्पत्ति को सत्य के ऊपर न्यौछावर करने में हर समय उद्यत रहें अपितु यहां तक कि अपने को भी सत्य के हेतु समर्पण कर दें, ऐसा बल, विश्वास, बुद्धि और श्रद्धा प्रदान करें।

हृदय की पवित्रता के लिए भगवान से प्रार्थना

ओ३म् महः पुनातु हृदये।

हे दयालु प्रभो! आप महान् हो और पवित्र हो। आपके समान संसार में कोई वस्तु महान् और पवित्र नहीं है। आप यद्यपि सर्व संसार में व्यापक हो तदपि मनुष्य का हृदय स्थान आपके निवास और मिलाप का विशेष स्थान है। आपने हम अल्प जीवों को अपने खोजने के कष्ट से बचाकर बड़ा ही उपकार किया है कि जिस हृदय मन्दिर में जीव आत्मा रहता है उसी में ही आप अपने भक्त को दर्शन देते हो। यह हृदय स्थान अत्यन्त छोटा अंगुष्ठ मात्र है परन्तु आपकी कितनी विचित्रता है कि सारे ब्रह्माण्ड में आप समाते नहीं, परन्तु इस छोटे से हृदय में आप अपनी समाई दिखलाते हैं। मेरे हृदय को अपनी महानता और सुन्दरता से उज्ज्वल और पवित्र करो। इसको दरिद्रता कृपणता, कुटिलता, कठोरता, कुचेष्टा और कुसंस्कारों

से निर्मल करो ताकि मैं आपके सौन्दर्य को देख सकूं। और जगत् के प्राणियों में जो तेरा निवास है उसे भान करते हुए सबसे प्रेम बढ़ा सकूं।

मेरा हृदय संकुचित है, मैं प्रेम का अधिकारी नहीं बन सकता जब तक तेरी कृपा न हो, तेरा प्रेम-रस चखने से ही मेरे हृदय के मानस सरोवर में जो तरंग उठेगी, वही सब शरीर रूपी जगत् में फैल जायेगी और शरीर का ब्रह्माण्ड (विश्व) से सम्बन्ध होने से मेरी आत्मा विश्व प्रेमी बन जायेगी। जिस प्रकार मेरा शरीर चर्म, अस्थि, मांस और रक्त आदि दुर्गन्धित चीजों का बना होने से भी एक चेतन आत्मा के संग से सबको अच्छा और आदरणीय प्रतीत होता है, इसी प्रकार मेरा हृदय अपवित्र और मलिन कुसंस्कारों का भंडार होते हुए भी तेरे निवास स्थान होने से मन्दिर कहलाता है,

प्रभो! आप प्रकाश स्वरूप हो। जहाँ आप हो, वहाँ प्रकाश न हो यह कितना तेरा अपमान है। मेरा हृदय तेरा मन्दिर होते हुए भी उजाड़ और शून्य है ऐसे स्थान में प्रभु मैं तुझे कैसे देख सकता हूँ जहां घूप अंधेरा हो। कृपा करो! दया करो पिता! और

मुझ अज्ञानी बालक के ऊपर अपना तरस करो। अपनी ज्योति से इसे प्रकाशित करो। तू श्रेष्ठ है। तेरे संग से मेरा हृदय श्रेष्ठ बन जाये, तू पवित्र है, तेरी चरण धूलि से मेरा हृदय पवित्र हो जाए।

जबानी जमा खर्च बेसूद

वास्तविक मनन की आवश्यकता

संसार में दो ही शक्तियाँ काम करती दिखाई देती हैं एक संयोग कर रही है एक वियोग। दूसरे शब्दों में एक प्रेम कर रही है वा एक से प्रेम हो रहा है दूसरी घृणा कर रही है वा दूसरी से घृणा हो रही है। इन दोनों गुणों का सम्बन्ध मन से ही अनुभव होता है। जिसके संयोग से प्रेम होता है उसके वियोग से मन को शोक और दुःख होता है और जिसके वियोग से प्रसन्नता होती है उसके संयोग से दुःख हो जाता है।

दोनों अवस्थाओं में मन की प्रसन्नता और अप्रसन्नता पारस्परिक विरोध की अवस्था में पैदा होती है। प्रतिदिन सहस्रों कीड़े और क्षुद्र जन्तु हमारे पग, स्वांस अथवा अग्नि, दीपक जलाने से हमारी आँखों के सामने अथवा हमारे मस्तिष्क में संस्कारी ज्ञान के रूप में मरते हैं और उनका वियोग होता है,

परन्तु एक तिल मात्र भी उनके वियोग से हमें दुःख नहीं होता और उनकी उपस्थिति और उनका संयोग भी हमारे मन के किसी प्रेम का पात्र नहीं बनता। इसी प्रकार पशु और पक्षी वियुक्त होते हैं जिनका कोई प्रभाव हमारे मन पर नहीं पड़ता। लाखों मनुष्य और बड़े सज्जन धर्मशील मनुष्य इंगलैंड, फ्रांस, रूस, जर्मनी तथा भारत में मरते हैं, उनका वियोग होता है, परन्तु उनके लिए हमें कोई विचार तक नहीं आता परन्तु जब किसी मनुष्य के पिंजसे में रहने वाला अल्प सा जीव बुलबुल वा तोता जिसने वह बार-बार मिल-कर प्रेम बढ़ाता है और प्रसन्न होता है यदि उसका वियोग हो जाये तो यदि मनुष्य फूट-फूटकर नहीं रोवेगा तो कुछ शोक अवश्य प्रगट करेगा और यह शोक उस बियोग का प्रभाव चिरस्थाई न हो तो अल्प काल के लिये तो मन पर प्रभाव अवश्य होता है। यदि कोई पशु पऊ अथवा घोड़ी जिससे मनुष्य उपयोग लेने के अति-रिक्त उसे अपनी सम्पत्ति समझता है और उससे प्रेम करता है, जुदा हो जाये तो कुछ अधिक काल उसका स्मरण और शोक करता है और यदि अपने बिरादरी का या कोई सम्बन्धी या शहर का अच्छा नेक आदमी

बिछुड़ जाये तो मनुष्य की आँखों में से आंसू निकल पड़ते हैं और कई दिन तक उसका दुःख उसके मन से नहीं जाता और यदि किसी मनुष्य का प्राण प्यारा पुत्र या प्राण प्यारी स्त्री का वियोग हो जाये जो उसके प्रेम के सचमुच पात्र बने हुए थे या जिनके लिये उनका सारा जीवन काम कर रहा था। उनके लिए फूट-फूट कर रोता और बार-बार रोता है। दूसरों के धैर्य दिलाने पर और सैकड़ों दृष्टान्तों को आंखों के सामने गुजरता देखने पर भी उसको शाँति नहीं होती, कई वर्षों तक यह वियोग उसके लिए अति शोक का कारण बना रहता है। कभी-कभी तो कोई मनुष्य के साथ टक्कर मारने लग जाता है और कई देवियां शव की अर्थी को चिपट कर रोने लगती हैं और कई अपने पति मोह, प्रेम के कारण से दिमाग खो कर पागल बन जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि केवल मनुष्य ही नहीं अपितु पशु भी अपने बच्चों के वियोग में अश्रु पात करते देखे गये। उनके कण्ठ के नीचे से चारा नहीं उतरता। खाना-पीना बन्द हो गया, उनको शोक चाहे जल्दी भूल जावे परन्तु होता तो मनुष्य की तरह ही है। एक काक के वियोग पर सब काक और चींटी जैसी क्षुद्र

जन्तु के वियोग पर सब चींटियां भी वियोग करती देखी गई हैं। जिस किसी का जिस किसी के साथ जितना-जितना, मिलाप अथवा नाता है, उतना ही उसके साथ प्रेम है और उतना ही उसके वियोग से दुःख है।

दो प्रकार के संयोग वियोग

यह सम्बन्ध मनुष्य के सामनें दो प्रकार से होता है, एक तो प्रभु का बनाया हुआ है और दूसरा अपने मन का बनाया हुआ है। जो सम्बन्ध प्रभु ने बनाया है उसके लिएतो मनुष्य को न प्रेम है न घृणा है और जो अपना बनाया है उसके लिये प्रेम और घृणा होती है यह एक ध्रुव सत्य है कि जो अपना है उससे प्रम है और उसके वियोग से दुःख होता है। अपना बालक भूल से कहीं थोड़ी देर के लिए आंख से ओझल हो जाए तो माता का दिल धड़कनें लग जाता है और यदि बच्चा गुम हो जाए तो पिता की तड़फ भूतल आकाश को छान मारती है। परमात्मा ने प्रत्येक प्राणी के अन्दर प्रेम का मधुर स्रोत अपने ही प्रेम के सागर से बनाया हुआ है और जाति और देश के भेदभाव से शून्य निर्धन, धनी, अज्ञानी और बुद्धिमान मनुष्य और च्यूंटी

से हाथी पर्यन्त सब जीवों को अपने इस स्रोत से दान बख्शा हुआ है, किसी को भी वंचित नहीं रक्खा।

ज़बानी जमा खर्च और वास्तविक मनन में भेद

परन्तु यदि हम गम्भीरता से विचारें तो हम अपनी वर्तमान अवस्था से इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि हमारा ईश्वर से कोई सम्बन्ध व नाता नहीं। यदि इस तथ्य को केवल नास्तिकता के लांछन से बचने के लिए बड़े जोर-जोर से पुकार कर कह दें कि प्रभु तो हमारा पिता है, स्वामी है हम उसके पुत्र हैं और सेवक हैं तथा वही हमारी रक्षा कर रहा है और हमारी सब मुश्किलों को हल कर रहा है उसी की सम्पत्ति से हम भरपूर हो रहे हैं। संसार में सुख आनन्द भोग रहे हैं तो सराफ की कसौटी पर हमारा यह कथन चाहे वाणी से गूंज कर घोषणा करते हुए भी कहा हो अथवा नगाड़े की चोट से प्रसिद्ध किया हो तो भी बिल्कुल गलत उतरता है क्योंकि यदि हम यह समझ लें कि वह सर्वव्यापक है हमारे में हर समय प्रभु उपस्थित है तो हमें उसकी उपस्थिति में प्रेम और प्रसन्नता भी हर समय रहे कभी दुःख न हो। बच्चा माता की गोद में

अपने आपको सदैव काल सुरक्षित और निर्भय जानता ही नहीं बल्कि उसके विपरीत संस्कार उसके मस्तिष्क में आते ही नहीं न उसे सुरक्षित और निर्भय होने का विचार उत्पन्न होता है और न उसे भय होता है। यद्यपि बच्चा दुःखी है तो माता की गोदी में माता के प्रताप से जिस सहन शक्ति से दुःख का भोग करता है और भोग के अतिरिक्त उसके दूर होने की चिन्ता तक नहीं करता अपितु उसके मस्तिष्क में मन में चिन्ता को स्थान नहीं मिलता। ऐसी सहन शक्ति हम वृद्ध, बुद्धिमान और ईश्वर को सर्वव्यापक जानने वाले को प्राप्त नहीं होती। हम उस दुःख से व्याकुल भी होते हैं, भोगते भी हैं उसके दूर करने और उससे शीघ्र मुक्त होने की चिन्ता भी करते हैं। जब हम दूसरों से क्रोध, द्वेष ईर्ष्या करते हैं यदि हम परमात्मा को अपने पास समझते हैं कि द्वेष ईर्ष्या कैसे उत्पन्न हो सकती हैं जबकि मन के अन्दर वह प्रेम स्वरूप बस रहा है और उसका मधुर स्रोत ठाठें मार रहा हो तो द्वेष की वह अग्नि अथवा क्रोध की ज्वाला जल में कैसे पैदा हो गई वह तो जल के भय से उद्भव ही नहीं हो सकती और दूसरे मन एक समय में दोनों वस्तुओं को कैसे ग्रहण कर सकता है,

जहां प्रेम है वहां द्वेष का अभाव है, जहां द्वेष है वहां प्रेम का अभाव है। यदि हम शुद्ध भाव से पूरे वजन के साथ कह सकते हैं कि वही हमारा रक्षक और माता पिता है तो हम उसके वियोग में एक क्षण भी न जी सकें। हमारी तड़प की तो कोई सीमा ही न रहे क्योंकि जब पुलिस सेना अथवा राज्य जो हमारा बाह्य रक्षक है और जिसको हमारे मन ने स्वीकार कर लिया है यदि एक दिन के लिए भी हम को जुदा मालूम हो तो हम अपनी सम्पत्ति की रक्षा में लगे रहने के अतिरिक्त कोई काम ही न कर सकें। जब बालक अपनी माता को अपनी दृष्टि से ओझल पाता है तो हालांकि सब सम्बन्धी उस मकान में उपस्थित हैं कोई भय उसे नहीं फिर भी वह अपने आपको अरक्षित अवस्था में पाकर धाड़-धाड़ मचा देता है। उसे उसके प्यारे बहन भाई चुप कराते हैं परन्तु उसकी दृष्टि में तो वे उसके कुछ लगते ही नहीं वह अपनी तड़प और व्याकुलता को और भी तीव्र वेग से अपनी चीखों से निकालता है जैसे उसके बहन-भाई उसकी रक्षा के स्थान पर उसे दुःख दे रहे हैं और यदि हम सचमुच उसे अपना स्वामी जानें और हम सेवक हों तो हम

अपनी सम्पत्ति को अपना न मानें बल्कि स्वामी की समझें। जैसे यहाँ, व्यवहारिक स्वामी के लिए सेवक सैकड़ों रुपये कमाता है तो भी उससे अपने को अपने निश्चित वेतन से अधिक का अधिकारी भूलकर भी नहीं जानता बल्कि यदि एक पाई को अपने प्रयोग में लावे तो गबन का दोषी बन जाता है, तो ऐसे हम भी समझें, परन्तु देखने में अवस्था और ही विपरीत नजर आती है। हम इस स्वामी की दी वस्तु को स्वामी के अन्य पुत्रों में देने को तैयार नहीं होते और उसकी राह में व्यय करने के लिए संकोच करते हैं। उस प्रभु के वियोग में (जो ज्ञान का वियोग है) तिल भर भी दुःख नहीं जैसे चींटियों के जुदा होने से हम को परवाह नहीं वैसे प्रभु की जुदाई से हम को टस से मस तक नहीं होता, नहीं तो जो सम्बन्ध मनुष्य का प्रभु के साथ है वह किसी और के साथ नहीं। जो आश्रय और मान हमारा प्रभु से है वह किसी और से नहीं मिल सकता। एक निर्धन से निर्धन भी बड़े गर्व के साथ कह सकता है कि प्रभु मेरा है। प्रभु मेरा पिता है। मैं उसका पुत्र लगता हूं, प्रभु मेरा मित्र है, सखा है, हालांकि एक निर्धन व्यक्ति किसी तहसीलदार को

नहीं कह सकता कि वह मेरा मित्र है अथवा सखा है और न किसी धनी को अपना पिता कह सकता है और न ही धनी उसे अपना पुत्र बनाने को तैयार है।

सच्चा सम्बन्ध

परन्तु वाह ! क्या शान है मेरे प्रभु की जो चाहे उसे वह अपना सब कुछ बनाले, उसे इन्कार ही नहीं उसका दरबार ही खुला है, कभी कोई याचक इस द्वार से खाली नहीं लौटा जिसने मांगा, उसने पाया जिसने खटखटाया उसने खुलवाया, एक सन्त ने कहा—

जाति-पाति न पूछे कोई,
जो हर को भजे सो हर का होई।

हे दया के सागर और प्रेम के भण्डार प्रभो ! तू तो अपनी अपार करुणा से सदा हम अल्प जीवों पर रक्षा का हाथ रखता है। हम तेरे सम्बन्ध को नहीं समझते, परन्तु पिता ! तू तो समझता है कि हम तेरे क्या लगते हैं। हम तेरे साथ जबानी जमा खर्च करते हैं, मन से, हृदय से भी तेरा हिसाब नहीं किया। पिता करें भी कैसे ? तेरे उपकार हों जब बेशुमार (असंख्य) और अनखुट, तो हिसाब कैसे करें, फिर तो मौखिक जमा खर्च करना ही पड़े, चाहे हम नकली रूप से ही करते

हैं, वह वास्तविक मौखिक जमा खर्च नहीं। फिर भी पिता ! तू सम्राटों का सम्राट है, हम तो डरते हैं कि—

> शाह नाल न कर हिसाब
> डेंदे घिनदे साईं

अर्थात्—शाह के साथ हिसाब न कर, लेन-देन में घाटा ही रहेगा। पुत्र तो कपुत्र हो जाते हैं परन्तु पिता कुपित नहीं सुना गया आप तो पिता हो यदि आप कृपा करके हमारे हृदय से संकुचितता का पर्वत चीरकर प्रेम का स्रोत बहा दो तो बस फिर हम उस अमृत को पीकर जीवन मुक्त हो जायें।

आत्म-साक्षात् की शर्तं

जो मनुष्य पाप इसलिए नहीं करता कि उसे इस बात का भय है कि पाप खुल जानें पर मेरी बदनामी होगी और लोगों की दृष्टि से गिर जाऊंगा, अथवा राजदण्ड भुगतना पड़ेगा, अथवा सब स्थानों से बचकर भी (अपने बल अथवा मान प्रतिष्ठा के द्वारा ईश्वरीय नियम से अवश्य दण्ड मिलेगा) या संसार में रहना मेरी आत्मा सहन न कर सकेगी, और आत्म-हत्या करनी पड़ेगी। इन कारणों से जो पाप नहीं करता वह

वास्तविक पाप का बचाव नहीं बल्कि जो पाप इसलिए करना नहीं चाहता कि उसे किसी दण्ड या नजरों में पतित हो जाने का तो ख्याल ही नहीं बल्कि उसे यह भय है कि छोटा सा पाप भी मेरी आत्मसाक्षात् में सख्त रुकावट है और जब कभी पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण मन के अन्दर किसी भी पाप के बीज एक क्षण के लिए अपनी शक्ल दिखाने लगते हैं। तो ठीक उसी क्षण उसी के शरीर के अन्दर थरथराहट कपकपी और व्याकुलता पैदा हो जाती है अंग-अंग कांपने लगता है, हृदय बाहर निकलता ज्ञात होता है और ऐसा असमर्थ हो जाता है, कि वह बार-बार प्रभु के दरबार में सहायता के लिए रोना, पुकारना शुरू कर देता है वह तो पाप के बीज़ अथवा वासना को किसी वीरता अथवा शासन वाणी से मौन कराना नहीं चाहता, अपितु वह अपने आश्रयदाता की शरण में उसको जड़ सहित उखाड़ने के लिए सहायता की चाहना करता है क्योंकि वह बीज मात्र भी उसे एक कठिन पहाड़ नजर आता है ऐसा मनुष्य उसी जन्म में आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। प्रभु के प्रसाद को पा लेता है। जिस जन्म में उसकी यह हालत होती है।

शब्द का महत्व

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः ।।

हे कल्याणकारी भद्र प्रभु ! संसार में जो तूने समस्त प्राकृतिक वस्तुओ के अन्दर जिसको स्थान दिया है वह सबसे बड़ा आकाश है और उसके आश्रय शब्द रहता है जिसका अधिष्ठातृदेव हम मनुष्यों में तूने कान और श्रवण शक्ति को प्रदान किया है, जैसे आकाश व्यापक है ऐसे ही शब्द भी उसके साथ है।

शब्द व्यापक है और हर समय विद्यमान रहता है

कोई समय शब्द से खाली नहीं रह सकता। हम मनुष्य जब अपनी जबान को बन्द कर लेते हैं तो नाना जीव जन्तुओं की आवाजें हमारे कानों में आने लगती हैं जब जीव जन्तु भी चुप होकर आराम करने लग जावें तब भी शब्द विद्यमान ही रहता है। शरीर के अन्दर इतनी आवाजें आती हैं कि यदि प्रभु तेरी विचित्र और आश्चर्यजनक कला, काम न करती होती, तो मनुष्य संसार में कोई काम न कर सकता और समुद्र के ठाठों की भांति बल्कि उससे भी ज्यादा जोर की आवाज और नाद से मनुष्य का मस्तिष्क हर

समय चकराये रहता और जीने के योग्य न रहता। रात्रि को हमें नन्हीं-सी चींटियों की आवाज भी न सोने देती अगर तूने हमारे कानों के परदों को चींटियों के बिलों की भांति टेढ़ा और विचित्र बनावट का बनाया होता। कोई मनुष्य नींद, विश्राम न कर सकता क्योंकि भयानक आवाजें इस आकाश पोल के अन्दर होती हैं। यह तेरी सर्व शक्तिमता है कि वह आकाश अपनें गर्भ के अन्दर इस भांति फैला देता है कि वह अज्ञात रूप में विद्यमान हैं, वरन् एक शेर की आवाज, बिजली की एक कड़क तोप का धमाका या एक ज्वालामुखी पर्वत के फटने की आवाज गर्भिणियों के गर्भपात करा देती और सुनने वालों को भयभीत कर देती है। बड़े-बड़े सुदृढ़ भवन और दुर्ग ही नहीं नगर के नगर भूतल में विनष्ट कर देती है। जब प्रतिदिन नहीं-नहीं प्रतिक्षण सर्व-प्रकार की भयानक ध्वनियों में शब्द होते रहते हैं, यदि आकाश अपने पोल के अन्दर उनको न फैला देता, तो फिर हमारा जीवन तो हमारे लिए दूभर हो जाता है। प्रभो! तू धन्य है, तेरी कारीगरी एक अचम्भा है, हम जीवों की रक्षा की सामग्री तूने गुप्त रूप से उसी कान में ही जुटा दी है।

कल्याण का बड़ा महत्व शब्द

मनुष्य के पुरुषार्थ का सबसे बड़ा साधन शब्द ही है, जो मनुष्य के मन को उत्साहित करता और कर्म और श्रम पर लगाता है। पापों से यही शब्द बचाता है और पापों में भी यही प्रवृत्ति कराता है। इसलिए हे कल्याण के केन्द्र प्रभो! जैसे संसार की लीला में हमारी इस शब्द से रक्षा की है, ऐसे ही दैनिक परस्पर के व्यवहार कार्य में सब सम्बन्धियों से हमारे कानों में कल्याण कारक शब्द गूंजा करें। दिव्य शब्दों से हमारे कानों की श्रवणशक्ति तृप्त हुआ करें, हमें शब्द तेरे चरणों की ओर खैंचा करें कहीं कुमार्ग में न घसीटा करें, ऐसी कृपा करो। तेरा ज्ञान भी हम मनुष्यों के कल्याण के लिए शब्द द्वारा श्रवण प्रदान हुआ। तेरी वेदवाणी तेरी श्रुति है। इसलिए हमारे कल्याण का बड़ा हेतु यही शब्द ही है और कान ही हैं। इन्हें भद्र बनाओ।

शब्द शक्ति

मनुष्य का शरीर अथवा दूसरे प्राणियों के शरीर कर्म से बनते हैं, मगर कर्म का सम्बन्ध ज्ञान के साथ है। ज्ञान किसी अर्थ का हुआ करता है और अर्थ शब्द

द्वारा प्रकट होता है किसी भी चीज, वस्तु का जिसे अर्थ कहें, का ज्ञान आत्मा में तो बिना किसी शब्द के होता है, परन्तु दूसरे के मन का, दिल का अभिप्राय मालूम करने के लिये और अपने दिल अथवा मन का भाव दूसरों को समझाने के लिये वस्तुओं का ज्ञान या विद्या(किसी अर्थ का ज्ञान) शब्द के अधिकार में है।

शब्द एक ऐसी शक्ति है कि इसका मुकाबला कोई दूसरा विषय अर्थात् (रूप, रस, गंध, स्पर्श) नहीं कर सकता। जिन मासाहारी पशुओं की उत्पत्ति के समय, आंखें बन्द होती हैं वह भी शब्द करते और सुनते हैं। जो रात्रि के समय नहीं देख सकते, या जो दिन के समय नहीं देख सकते, वह भी शब्द करते और सुनते हैं। शब्द का मन के साथ, हृदय के साथ एक गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि शब्द विषय आकाश का है और हृदय स्थान आकाश ही है और यह स्थान सब तार और बेतार बर्कियों का यन्त्र है। शब्द मनुष्य के मन का पथ-प्रदर्शन करता है और पथभ्रष्ट भी करता है। शब्द दूसरे विषयों को भी विचार की दुनियां में उपस्थित कर देता है। कोई व्यक्ति जब अपनी किसी प्यारी मनोहर खाने की वस्तु का नाम सुन पावे, तो

सचमुच मुंह में पानी भर आता है और वह घूंट उसे वही स्वाद देने लगता है। सुगन्धियों का इच्छुक प्रेमी जब अपनी रुचिकर सुगन्ध का नाम सुनता है, वह उसी क्षण नासिका से गन्ध लेने लग पड़ता है, मानो वह वस्तु उसके बिल्कुल ठीक सामने आ गई है। अथवा जब किसी अत्यन्त दुर्गन्ध, विष्टा आदि की ध्वनि उसके कर्ण में आ जाए, तो तुरन्त नाक सुकड़ जाती है। ऐसे ही स्पर्श का हाल है।

शब्द का आकार

परन्तु रूप तो हर समय शब्द में रहता है, यह तो प्रत्येक आदमी का अनुभव है कि जब किसी को अपने किसी परिचित मित्र या सुहृद की ध्वनि अथवा खांसी का शब्द अथवा जूते की आहट का शब्द कान में सुनाई देता है तो वह सहसा कह उठता है, कि लो! मेरा अमुक मित्र आ रहा है।

शब्द तो एक है परन्तु इतना विस्तृत है जितना कि आकाश, मनुष्य की बुद्धि प्रत्येक वस्तु की आवाज सुनते ही उसका रूप उसी क्षण मन के सम्मुख कर देती है। कहीं से ध्वनि 'बां' 'बां' की आई तो मनुष्य ने समझ लिया कि गाय है। यदि हिनहिनाने की ध्वनि

आई तो उसके सामने घोड़े का आकार। (घोड़े का रूप) आ गया यदि हींगने का शब्द सुना तो गधे की आकृति मस्तिष्क में बन गई। किसी पशु पक्षी अथवा मनुष्य की आवाज जब कान में सुनाई देती है तो उस की जाति मनुष्य तुरन्त जान जाता है। यही नहीं अपितु जड़ पदार्थों से जो आवाज निकलती है उसका ज्ञान अर्थ सहित अर्थात् वस्तु सहित मालूम हो जाता है। एक गोली चली, इस शब्द ने मनुष्य के मस्तिष्क में बन्दूक का आकार बनाकर उस वस्तु का ज्ञान करा दिया। दूसरी ओर एक उद्यान के माली ने बाटिका में वैसी ध्वनि की तो मालूम हो गया बन्दूक नहीं छाट (रस्सी) की आवाज है। उसी रस्सी का रूप मस्तिष्क में बनकर आ गया। दूर से वृक्ष पर ठा-ठा की आवाज आई, वृक्ष और कुठार का रूप बन कर आ गया, कहीं किसी शहतीर को आराकश चीर रहे हैं तो वह आवाज आरे के रूप को लेकर उपस्थित हो गई हर आवाज में हर उस व्यक्ति प्राणी अथवा अप्राणी का स्वरूप रहता है जहां से वह निकलती है। नदी के प्रवाह का नाद नदी को जल सहित मस्तिष्क में दिखा देता है। किसी अंधेरी रात्रि में जबकि वायु वेग से

चल रही हो किसी जंगल में दो पथिक सफर करते आगे-पीछे होकर मार्ग भूल जावें, जहां हाथ को हाथ न सूझे तो पीछे वाला आगे को आवाज देकर पूछता है। उसकी आवाज से बिना किसी प्रकाश के होते हुए भी दिशा का ज्ञान कर लेता है कि मेरा आगे चलने वाला दोस्त किस दिशा को जा रहा है।

शब्द पथ-प्रदर्शक है

और वही आवाज बार-बार देने पर मार्ग बन जाता है यह आवाज एक बड़ी मार्ग दर्शक है। एक श्रान्त यात्री जंगल की यात्रा करते-करते रात्रि हो जाने पर निराश हो जाता है और जब उसे कहीं से कुत्तों की भौंक अथवा मनुष्यों को आवाज सुनाई देती है, गद्-गद् हो जाता है कि आबादी आ गई, उसका पीछे पड़ता पग भी अब शीघ्रता से आगे जाता है। एकान्त में रहने वाले मानव के लिए तो यही एक आवाज ही उसकी सहायक रहती है, जहां निर्जन स्थान में कोई बात करने वाला नहीं किसी का मुख तक नहीं देखा जाता, वहां यही आवाज उस एकान्त वाले एकान्त सेवी की मित्र होती है। कई बार देखा गया है कि एक घुड़सवार के मार्ग में जाते उसकी

घोड़ी किसी आवाज अथवा झाड़ी में सर-सर होने से दहल कर सवार को बेताब कर देती है। जिस सर्प से मनुष्य भय खाता है और मनुष्य को डस कर एक मिनट में मृत्यु कर देता है, वही सर्प बीन की आवाज को सुन कर बीन बजाने वाले के पास मुग्ध हो जाता है, मतवाला होकर नाचने लगता है।

शब्द का प्रभाव

शब्द बड़ी भारी शक्ति है जो राजों, महाराजों के शीष झुकवा देता है। मधुर और प्रेम सत्यवादियों के शब्दों से एक दम में वैराग्य प्राप्त हो जाता है। बड़े-बड़े राजधानियों के स्वामी उस राज्य को मिट्टी का ढेला समझने लग जाते हैं। शब्द जीवन है, शब्द मृत्यु है। शब्द से हर्ष, शब्द से शोक का दरिया उमड़ पड़ता है। शब्द धैर्य दिलाता और यही शब्द अधीर कर देता है। प्रत्येक शब्द का प्रभाव उसके उच्चारण करने वाले के अस्तित्व पर निर्भर है। एक शब्द जो साधारण व्यक्ति बोलता है, उसका प्रभाव भी साधारण और यदि वही शब्द एक मान्य या प्रतिष्ठित व्यक्ति के मुख से निकले तो सब संसार उसे स्मरण रखता है, समाचार पत्रों में चर्चा हो जाती है। यदि वही शब्द

एक सम्राट के मुख से निकले तो सारे राज्य में प्रमाण बन जाता है।

विचार प्रकट करने का साधन शब्द

शब्द विचार प्रकट करने का एक साधन है, जो शब्द एक बार मुख से निकल गया समझो वह विचार आकाश में फैल गया, उसका प्रभाव गुप्त रूप में उन-उन आत्माओं में होने लग जाता है जो इसके सजातीय विचार के हैं। यह विचार सुविचार, कुविचार अपने अपने अधिकार के लोगों का दायभाग बनकर उनको बिना किसी अधिक परिश्रम के दायत्व विरासत में प्राप्त हो जाते हैं। यह संसार अथवा यह आकाश ख्यालों विचारों से जो शब्द द्वारा उसमें उपजें, भरा पड़ा है। ऋषि-मुनि अपने विचार ही छोड़ गए सन्त, महात्मा, भक्त-जन अपने सद्विचार आकाश को अमानत दे गये, उन सबकी आवाजों की ध्वनि आकाश मण्डल में सदैव गूंज रही है। सारा आकाश उनसे परिपूर्ण है। वह चील की भांति मण्डलाते रहते हैं।

शब्द को अपने अधिकारी की खोज

शब्द मण्डलाते हुए अपने अधिकारी की खोज में लगे रहते हैं, जब कोई अधिकारी मिल जाता है तो

उसके मन में समा जाते हैं और उसकी क्रिया तथा ज्ञान के रूप में नवीन-नवीन आकार बदलते हुए अपनी क्रीड़ा दिखाने लगते हैं, जिसके मन को चोट लग गई, जिसके मन की घड़न्त अच्छी हुई है, वह उनको पाकर गद्-गद् और कृत कृत्य हो गया, उसी आकाश मण्डल में पशु-पक्षी हिंसक जन्तु और मनुष्यों की आवाज के अतिरिक्त उस पारब्रह्म परमात्मन देव की अमृतवाणी तो गूंज रही है। जिस प्रकार प्रत्येक आवाज में उस आवाज करनें वाले की शक्ल और उसका स्वरूप निहित है। उसी प्रकार भगवान वेद, श्रुति के शब्द-शब्द में उसके प्रदान करनें वाले प्रभु का निज स्वरूप निहित है। जैसे अपनी जान पहचान वाले के बिना दूसरे को नहीं मालूम हो सकता, ऐसा ही प्रभु की अमृत वाणी से अजर-अमर प्रभु का स्वरूप भी उसके जानकारों को ही प्रतीत होता है, दूसरों को नहीं। पदार्थों का स्वरूप साकार होनें से आवाज से साकार दिखायी देता है और प्रभु का स्वरूप निराकार होने से उस ही रूप में दिखाई देता है जैसी वह है। सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूपों का आविष्कार उसके शब्द अनुसार भान होवें लगता है।

शब्द-योग

योगी जनों ने जब-जब वेद के मन्त्रों को यथार्थ भाष्य करने के लिये कि यह ठीक है अथवा गलत तो उन्होंने ध्यान समाधि द्वारा उन ही शब्दों और मन्त्रों में प्रभु का साक्षात करके और वे शब्द जो सृष्टि के आदि में आकाश में फैल गये वे स्वयं अपने स्वरूप में समाधिस्थ योगियों के ऊपर प्रकट हुये जिससे उनको पूर्ण निश्चय हो गया कि यह मन्त्र ईश्वरीय वाणी के हैं। ऐसे भक्त, उपासक ऋषि मुनि जब भी वह प्रभु की अमृत वाणी सुनते मुग्ध हो जाते थे। जैसे हम लोग किसी मधुर स्वर गायक की ध्वनि निकलने पर अनायास सिर पाँव हिलावें और हाथ से चुटकी बजाने में उन्मत्तों की भांति बिना किसी पुरस्कार पाने के या किसी के कहने कहाने के लग पड़ते हैं इस प्रकार वह भक्तजन मुग्ध मतवाले हो जाते हैं। मन हर एक वस्तु पर टिकाया जा सकता है परन्तु हर एक पदार्थ इस शरीर से बाहर ही होगा, ऐसे मन टिकाने वाले मनुष्य बाह्य वृत्ति के ही रह सकते हैं और जो लोग अपने शरीर में किसी भी अंग पर अपना विचार जमाते हैं वह भी अन्तर्मुख नहीं बनते, परन्तु जो

अभ्यासी शब्द के ऊपर और आन्तरिक शब्द के ऊपर मन को टिकाता है वह बहुत ही सूक्ष्म और बिना अपने रूप के होने के अति सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त कर लेता है और धीरे-धीरे वही शब्द अपने अन्दर रखने वाले अर्थ या वस्तु को प्रगट करने लग जाता है और उसी से आत्मा के अन्दर फिर ज्ञान की प्राप्ति होने लग जाती है। यह अन्तिम बात समझने में सरल नहीं है बल्कि करने से स्वयं आ जाती है शब्द का मन में समा जाना उसके आचरण और ज्ञान के रूप में प्रगट होता है।

—०—

॥ ओ३म् ॥

निर्धनता परमात्मा की एक करुणा है इसके रहस्य को समझने की आवश्यकता

हे पिता.! पतित उद्धारण हार।
दीन शरण कंगाल के स्वामी,
दुख के मोचन हार।
तुम बिन कोओ समरथ है,
करे दीनन को पार॥

हे दीनबन्धु ! दीनानाथ ! दीन दयाल ! दीन शरण दुःखहरण ! दयालु पिता ! तेरी ही करुणा से हम निर्बल निराश्रयों को आश्रय मिल रहा है। तेरी दया का हाथ हम निर्धन दीनों पर न हो तो हमें इस संसार में कौन जीने देता। तू तो रक्षक है सबका, परन्तु हम कंगालों का तू गुप्त रक्षक है। हर समय................आपत्ति और भीड़ से बचावें और निकालनें वाला केवल तू ही होता रहा है, नहीं तो विपत्ति का नाम ही हमारे प्राण लेनें के लिये काफी हो जाता। दीन तो पहले ही से दीन है, वह तेरी भेंट कर ही क्या सकता है। उस बेचारे की पहुँच ही क्या है।

प्रभु का नाम गरीबनवाज़ है न कि शाहनवाज़

वह तो केवल दुःख दर्द कें भरे तुच्छ अश्रु दिल से निकाल कर तेरी शरण में आता है, और धन्य है तू अबला के अश्रुओं, (जलीय बिन्दुओं) को सम्राटों के हीरे तथा माणिक मोती से भी अधिक मान देता है। तेरा तो नाम ही परीबपरवर है, गरीबनवाज़ है। कभी अमीर-नवाज और शाहपरवर कहकर तुझे किसी ने नहीं पुकारा

गरीब पुकारे तो भी गरीब परवर ! बन्दा परवर ! गरीब नवाज। और अगर अमीर पुकारे तो भी गरीब परवर ! बन्दा परवर ! गरीब नवाज ! बन्दा नवाज के नाम से पुकारता है। शाह होकर भी गरीबों का मालिक तुझे कहता हुआ तुझ गरीबों के मालिक के द्वार पर अलख जगाता है। अपना परवर (शाह परवर) कह कर अपना सम्बन्ध नहीं बतलाता तेरे पास तो गरीब की ही इज्जत है। शाह भी गरीब के नाम का सम्बन्ध जोड़कर तेरे पास आने का दम भर सकता है।

प्रभु का निवासस्थान गरीब का हृदय है

आह प्रभु ! तेरी लीला कैसी विचित्र है। किसी के समझने में ही नहीं आती, तेरा निवास तो उस गरीब के हृदय मै और हृदय की नम्रता में तथा गरीब हृदय में ही है, फिर कोई शाह और धनी निर्धन ही नहीं बनना चाहता। भूल कर भी इस मार्ग से पग नहीं धरना चाहता चाहे सम्पद् में उसे हजारों दुःख क्यों न हों और विचित्रता यह कि जिन निर्धनों का तू गुप्त सेवक बन जाता है वह निर्धन भी निर्धन नहीं रहना चाहता वह गरीबी से निकल कर अमीर बनना

चाहता है। जिसे सब विमुक्त कण्ठ से कह रहे हैं उसे भूल ही जाते हैं तूने कोई ऐसी औषधि फैलाई है जो कि मस्तक को अचेत करके धन के चक्र में घुमा रही है और यही चक्र आवागमन का चक्र बनकर चौरासी लाख योनि का मुख दिखला रहा है। कहीं शांति और स्थिरता नहीं। अशान्ति से व्याकुल फिर रहे हैं। भगवन् ! आओ ! कृपा करो मुझ निर्धन को तो तेरी गरीबनवाजी एक सम्राट के आतिथ्य सत्कार से बढ़कर है। मुझे तू जिस अवस्था में रखे, वही तेरी दया है। परन्तु दिल की दीनता से मुझे कभी वञ्चित न करना, यही तेरा बड़ा उपकार है और होगा क्योंकि दीन हृदय में तेरा निवास है, तेरे दर्शनों का स्थान है। मेरे दीन हृदय में ही आपका निवास हो, आपका ही पूर्ण विश्वास हो ! आपका ही प्रकाश हो।

हिमालय पर्वत की सी भूल

इस सभी जगत् के सब मनुष्यों की बांट चाहे, वे गोरे हों या काले, ब्राह्मण हों, या शूद्र, ईसाई हों या मुसलमान एशियाई हों या रूसी दो मोटे भागों में प्रतीत होती है। एक धनी, दूसरे निर्धन। सकल संसार का स्रष्टा जो प्रभु है वही सब धनी तथा निर्धन का

पालक पोषक और स्वामी है परन्तु प्रभु की कृपा का पात्र धनी लोग अपने आप को जानते हैं, या मानते हैं, गरीब को तो अपनी दया का भिखारी समझते हैं और बेचारे निर्धन भी जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों से इस प्रकार परवरिश पाते हैं कि उनके दिल व दिमाग सदा दबे हुये रहते हैं, उनको उभरने और विकसित होने का कोई साधन प्राप्त नहीं होता और वह भी अपने आप को धनियों के द्वार का भिखारी बना प्रभु से कोसों दूर रहना चाहते हैं हालांकि दोनों के दोनों एक पर्वत जैसी या हिमालय जैसी भूल में पड़े हुये हैं।

धन तथा दु:ख

धनी तो धन का कोषाध्यक्ष है, संतरी है उसका भोग वहीं करते हैं जो निर्धन हैं। निर्धन ही इस धन के उपभोगी हैं। धन को पैदा करने में अति कठिनाई और नाना प्रकार के छल-कपट और झूठ से अपना मूल्यवान मनुष्य जीवन और पवित्र आत्मा को आपत्ति में डालकर धनी कहलाने की इच्छा की जाती है। जब धन पैदा हो गया अब उसको रखनें और सम्भालने का जोखम धनी को होता है यह वही जान सकता है। बेचारे को सुख की नींद कभी नहीं आती, सिर के

सिरहाने तिजोरी की चाबियां धरी हैं, कई बार सोते हाथ लगाकर देखता है। जरा आहट हुई और चौंक पड़ा। लैम्प या दीपक सिरहाने जगता ही रहता है। कुत्ते की भौंक आई नहीं कि उठकर दीवानों की भांति मकान के इधर-उधर, दायें-बायें, पूर्व-पश्चिम घूमता रहता है और दिल धड़कता-धड़कता बस नहीं करता। किसी बैंक में जमा किये बैंक के फेल होने का समाचार जरा कान में आया कि होश उड़ गये, कंठ सूख गया, खाना पीना हराम हो गया जैसे कि शोकी हो। किसी धनी सेठ के पास अमानत रक्खे, ईश्वर न चाहें कि वह दिवालिया हो जाये तो अपना भी दिवाला पिट जावे। अतः धन के पैदा करने में जितनी कठिनाई है, उससे अधिक उसे सम्भाल रखने में और इससे अधिक उसके खोये जाने में है।

धन निर्दयता तथा नास्तिकता

बहुत थोड़ों को छोड़ कर प्राय: धनी निर्दयी बन जाते हैं, बल्कि लोग तो उन्हें कसाई कहने लग पड़ते हैं। न आप अच्छा खा सकते हैं ना दूसरों को खिलाने का दिल रखते हैं। दान पुण्य तथा प्रभु का नाम उन पर मानो सौगन्ध वाली बात ही होती है। जिस शहर

में जाओ कोई बिरला धनी ही लोगों की शुभ वाणी अथवा शुभ वाक्य से याद किया जाता होगा नहीं तो चार पांच दस आदमी जहां होंगे ? नहाते, धोते, मेला, मार्ग पर व कथावार्ता पर वहां भी धनी की निन्दा जारी होगी । निर्धन को घर से वंचित करें यही धनी । गरीब रोटी से मोहताज हो जायें इनकी बदौलत । नौकरी और सेवा भी गरीब करें धनियों की । झाड़ू देवें, पानी भरें, रोटी पकायें खिलायें, अभ्यागत का अतिथि सत्कार करें, घोड़ियों के आगे दौड़ें और फिर भी शाह को दबायें, मुट्ठियां भरें, रात्रि को बिस्तर बिछा-सुला कर आप सोवें और उनके जागनें से पहले जागें । शरद् ऋतु में गरम जल में स्नान कराये तो ग्रीष्म में पंखा करते-करते सुलावें । ऐसी निर्धन जाति हितचिंतक जाति जहाँ आधी रात को अपना सगा पुत्र तो काम करनें वा बाहर जानें से इन्कार कर देवे परन्तु क्या बात इस दीन निर्धन जाति की जो हर समय 'जी-जी' करे । अपने स्वार्थ की पूर्ति में और अभिमान के अन्ध में उस जाति की जायदादों को चुका लेवें, जरा चूंचुरा करनें पर उनको करावास का मुख दिखा लावें, कौन ? यह धनी महोदय । सारी आयु सेवा

करते मर जाओ, पीछे अनाथ या विधवा छोड़ जाओ तो धनी जरा भी तर्स न करेगा, उनका मकान आभूषण और वस्त्र अपने बल और धमकी से लेकर विधवा और अनाथ को बेदर और बेघर करके रुलायेगा। ऐसे अनाथ और विधवायें कई अनेक बेघर, बेदर होकर रोती-रोती आयु बिता गईं। धनी नहीं समझता, कि मैं क्या कर रहा हूं, किसके साथ कर रहा हूं। गरीब बेचारे को तो पता ही नहीं, कि प्रभु ही उस गरीब का रक्षक है, उसके अन्दर ही रहता है कहा है—

गरीब को मत सता जालिम गरीब रो देगा।
सुनेगा उसका मालिक जब तो जड़ से खो देगा॥

लोकोक्ति है कि जब किसी गरीब दीन दरिद्र की स्थिति की वार्ता होती है तो यह कहा जाता है कि अरे क्या रखा है उसके घर में, वहाँ तो राम का नाम ही नाम है या खुदा का नाम है अर्थात् निर्धन की सम्पत्ति पूंजी और जायदाद तो वास्तव में प्रभु आप ही हैं। यदि इस तथ्य को दीन समझ जावे तो उस जैसा धनी और बेपरवाह कोई न हो। धनी का नाम मान से बोला जाये और निर्धन का सादा नाम जैसे प्रभु का

सादा नाम बिना किसी उपाधि के अर्थात् मल, राम, दास, चन्द्र, कुमार के हैं। ऐसे ही निर्धन का परन्तु फिर भी निर्धन धनी को इसमें बेसमझी है। धनी, निर्धन और ईश्वर के नामों में जरा मिलान करो तो अपने आप सिद्ध होता है कि निर्धन को असली नाम से पुकारा जाता है और धनी का नाम उपाधि सहित कृत्रिम नाम (नकली) होता है।

जो प्रेम और प्यार असली नाम में है वह बनावटी में नहीं रहता। गरीब के नाम का प्रभु के नाम से पूरा-२ मिलाप है। यदि दीन इस मर्म को समझ जाये तो वह जल्दी से प्रभु को रिझा सकता है।

दीन के नाम की प्रभु के नाम से समानता

धनी का नाम	दीन का नाम	प्रभु का नाम
आत्माराम	आत्मा	आत्मा
भगवानदास	भगवाना	भगवान्
परमेश्वरीलाल	परमेश्वरी	परमेश्वर
ईश्वर चन्द	ईश्वर	ईश्वर
चेतनानन्द	चेतन	चेतन
प्रभुदयाल	प्रभु	प्रभु

ठाकुरदास	ठाकुर	ठाकुर
शंकरलाल	शंकर	शंकर
शिवनाथ	शिव	शिव
विष्णुदत्त	विष्णु	विष्णु
रामदयाल	राम	राम
कृष्णकुमार	कृष्ण	कृष्ण
दयालचन्द	दयाल	दयाल
नारायणदास	नारायण	नारायण

जो प्रेम निर्धन के दिल में होता है वह प्रेम साहूकार को भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो सच्ची सहानुभूति, सेवा, निर्धन दूसरे की कर सकता है। उसके लिए धनी के पास स्थान ही नहीं।

जब किसी राजा महाराजा अथवा किसी धनी-मानी ने प्रभु को पाया, उसकी इच्छा होते ही अपने आपको गरीब से भी गरीब बना दिया, राजपाट, धन आदि का त्याग करना पड़ा, दिल का भी गरीब बना और मालधन से भी शरीर को गरीब बना दिया, किसी राजा अथवा धनी ने बिना गरीबी धारण किये के ईश्वर को नहीं पाया।

धनी को ईश्वर का विश्वास पूर्ण रीति से नहीं हो सकता परन्तु गरीब का विश्वास तो जन्म सिद्ध ही है, केवल पर्दे के कारण वह डावांडोल हो जाता है। गर्मी की ऋतु में रात्रि को धनी बिना लैम्प के कभी बाहर सर्प के भय से पेशाब करने भी न जायेगा। परन्तु निर्धन ईश्वर के आश्रय सफर करता नजर आयेगा। पौष मास की सरदी में यदि धनी को बाहर निकलना पड़े तो सारा शरीर गर्म कपड़ों से ढांप कर निकलेगा कि कहीं निमोनिया न हो जाये, परन्तु निर्धन सारी रात्रि बाहर बिना किसी ओट के बिना वस्त्रों के बितायेगा।

प्रभु गुणों का वास्तविक उत्तराधिकारी गरीब हृदय

दो राजा तो एक राज्य में न समा सकें परन्तु दस गरीब एक झोंपड़ी में बसेरा कर लेवें। जो गुण प्रभु में हैं उनका वास्तविक उत्तराधिकारी गरीब (दीन) दिल ही है। दया और उदारता, परोपकार और सेवा, त्याग और प्रेम, सरलता और सदाचार, श्रद्धा और मान, धैर्य और संतोष, क्षमा और तप, विश्वास और पुरुषार्थ, पाप से भय और हर प्रकार से बड़े का आदर

मान जो गरीब को उसकी निर्धनता के बदले में ईश्वरी प्रसादी मिली है, वह धनी को बड़े परिश्रम, तपस्या और त्याग करने से प्राप्त हो सकती है।

धनी व्यर्थ मिथ्या और अभिमान में निर्धन जाति को अपनी दया, करूणा का भिखारी समझे हुए है। प्रभु का प्रकाश कभी धनी के हृदय में नहीं हुआ जब तक वह अपने आप को धनी मन से मानता रहा। एक बार तीन सूईयां चांदी, स्वर्ण और लोहे की इकट्ठी पड़ी थीं। उधर से चुम्बक सामने हुआ तो लोहे की सूई हर्षित होकर कूदने लगी और फांद कर चिपट गई। चांदी और स्वर्ण की सूईयों को बड़ा आश्चर्य हुआ, कि हमारा निरादर कर दिया। चुम्बक लोहे को पसन्द करे और हमारी बात न पूछे, चांदी की सूई लोहे की सूई के ऊपर चढ़ गई। चुम्बक सामने आ गया, तो लोहे की सूई ने चांदी की सूई को धक्का देकर गिरा दिया और चिपट गई। फिर स्वर्ण की सूई उस पर चढ़ गई। अब स्वर्ण बड़ा अभिमानी था परन्तु लोहे की सूई में चुम्बक के लिए बड़ी तड़प और व्याकुलता पैदा हुई। तड़पते-२ हरकत करते-२ स्वर्ण को एक ओर करके चुम्बक से चिपट गई। चांदी और स्वर्ण को तो अपना भार और अभिमान ही नहीं उठने देता।

लोहा तो बेचारा लोहा है। गली में डाला और कोई दृष्टि ही न करे। स्वर्ण और रजत की एक रत्ती भी डिब्बिया में बन्द रहने के बिना बाहर विश्राम नहीं पाती।

स्वर्ण, रजत अग्नि में पड़ें तो अपना रूप, प्रकाश तथा खरापन दिखलाने के लिए। परन्तु जब लोहा अग्नि में पड़े, अपने रूप को मिटा कर अग्नि का रूप धारण करे, उसका प्रकाश, उसका तेज, उसका रूप दिखलाने लगें। ऐसे ही धनी जब भी परख में पड़ेगा, अपना नाम उज्ज्वल करने के लिये, परन्तु दीन प्रभु के नाम पर बिक जायेगा।

ईश्वरीय मिलाप का साधन दिल की दीनता

पर्वत का एक बड़ा पत्थर जब तक बड़ा है, उस पर सूर्य का प्रकाश अपने आप को प्रगट नहीं करता परन्तु जब पत्थर ने अपने आप को कण-२ कर दिया, रेती बन गई तो रेती का एक-२ कण जब उस पर सूर्य की किरण पड़ती हैं, सूर्य की भांति प्रकाशमान और प्रदीप्त प्रतीत होता है। पीपल के एक बड़े पेड़ के ऊपर जो शाखा बड़े अभिमान से लहरा रही है, आंधी और तूफ़ान उसकी गरदन मरोड़ कर भूमितल पर दे

फैंकता है परन्तु एक घास का तृण जो सर्वतः अपनी पैदा करनें वाली माता के आश्रय तृण बना लहरा रहा है, जिसकी कोई इतनी बड़ी हैसियत नहीं अपितु जिसे एक छोटा सा बालक भी दो अंगुलियों से उखाड़ सकता है। आंधी और तूफान अपना सारा वेग दिखानें पर भी उस तृण को नहीं उखाड़ सकते। गरीब की जड़ वास्तव में शौह के साथ मिल गई है और धनी की जड़ बेबुनियाद और बेआश्रय ऊंचे रेत के टीले के ऊपर की भांति हैं। इसलिए ईश्वरी मिलाप की साधना मन को दीन बनाकर उस प्रभु दीन-पालक, दीन-दयालु की दया का अधिकारी बनाता है।

सुखी बसें मस्कीनियां, आप निवाय तले।
बड़े-बड़े अहंकारियां नानक गर्भ गले।।

हे दयालु प्रभु! हमें इस दीनता के प्रसाद से सुशोभित करो! हमें सुबुद्धि सुमति प्रदान करो! कि हम निर्धनता, दीनता के वास्तविक मर्म को समझते हुए सर्वदा इसी में सुप्रसन्न रहें। इसे तेरी करुणा समझें क्रूरता न समझें। संसार के धनियों को धव से भी अधिक बढ़ाओ ताकि तेरे प्रेम का पात्र बन सकें। और दीनों को गरीबी के रहस्य से परिचित करो। जिस से वह सन्तोष का जीवन बिता सकें।

विचित्र स्वामी

हे मेरे दयालु पिता माता ! मेरे अदृष्ट अन्न-दाता ! तेरी सृष्टि और रचना तो विचित्र थी ही परन्तु तू स्वयं भी विचित्र ही है। तू तो बिना आंखों के हमें देख रहा है और हम आंख से भी न देख सकें। तू मौजूद भी है और अंगसंग भी है, फिर हम तुझे स्पर्श न कर सकें। तू सारे जगत् को सुलावे और आप क्षण भर भी न सोवे, समस्त प्रजा को खिलावे-पिलावे, नाना प्रकार के फल मेवे, अन्न और रसपान करावे और आप बिना खाये पिये तृप्त रहे। सब मनुष्यों को धन उधार देवे और फिर वसूल करने का नाम हो न लेवे, ऐसा भूल जावे जैसा उधार देकर दान कर दिया हो। तेरी उदारता और महानता भी इतनी विचित्र है कि हम तुझे स्मरण करें, या न करें, परन्तु तू किसी को नहीं बिसारता। हम पाप करें, खोट करें, तुझे गालियां भी दे बैठते हैं, परन्तु तू ऐसा मौन है जैसे तुझे कुछ पता ही नहीं, सुन देखकर भी उपेक्षा (चदमपोशी) करता है। पिता तू धन्य है, धन्य है। हमें भी ऐसी बुद्धि और शक्ति प्रदान कर कि हम जो कर्म करें अथवा हम

से जो कर्म हों तेरी ही प्रेरणा से हों और वे भी ऐसे विचित्र हों कि हम स्वयं देखकर चकित हो जायें और तुझे धन्य-२ कह कर पुकारें और इसके बिना हमें कोई सुध-बुध न रहे ! ! !

मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है

मनुष्य जन्म वास्तव में दुर्लभ जन्म है, इसकी संवार सुधार बड़ी ही कठिन चढ़ाई की भांति है। जो उतार चढ़ाव मनुष्य के अन्दर होते रहते हैं, वे बहुत ही भयानक होते हैं। मन के जिस चक्र में मैं घूमता हूं अथवा मुझे इन पिछले दिनों में घूमना पड़ा है, और जो दशा मेरी इस मन देवता ने की है सारी बीती आयु में ऐसा घुम्मर घेर कभी न पाया था। प्रभु की कृपा के बिना मैंने अपने आपको तो नितान्त असमर्थ पाया है कि तिल भर भी अपनी आत्मा के अनुकूल अपने मन को लगा सकूं, इसके विपरीत यह आत्मा को ही घसीट ले जाता है। जब प्रभु की कृपा होती है तो यह मन ऐसा मालूम होता है, जैसा यह किसी काल का ऋषि है। मैं तो ऐसा समझता हूं कि मुझे तो अपनी निगरानी, ऐसे करनी चाहिये जैसे एक किसान रात दिन को कुदाल अपने कन्धों पर रख कर अपनी खेती को

सींचने के लिये पानी की मेंढ़ पर इस समय निगरानी करता है, घूमता रहता है कि कहीं से पानी उछल न पड़े,या कहींसे पानी टूट न जाये,और पानी की जो बारी मिली है वह बीत न जाये। वह अपने दु:ख और कष्ट, नींद और भूख की परवाह न करता हुआ, वह पानी को बड़ी लगन और दक्षता से लगाने में व्यस्त रहता है, ऐसे ही मुझे भी करना चाहिए कि यह मनुष्य जीवन की अल्प आयु की भाग्य से प्रभु से यह एक बार मिली है। इस बारी में किसान की भांति ही चतुराई से बुद्धि के कुदाल को तैयार रखना चाहिये ताकि मन रूपी नाली में जो कर्मों, संकल्पों का प्रवाह अपने वेग से चल रहा है, कहीं इस मन में छेदन कर दे, या उछल न पड़े, तभी मैं अपनी जीवन की खेती को सिंचित करके उससे मीठे फल की आशा बांध सकूंगा वरन् असम्भव है कि यह मेरे जीवन की खेती खराब होकर के किसी मीठे फल को आशा बंधाये।

प्रभु की समीपता

प्रभु के दर्शन चाहे न हों या न हो सकें, परन्तु प्रभु की समीपता ऐसा सौभाग्य देने वाली है जैसी समुद्र की समीपता। जिन लोगों ने व्यापार किया है, या इस

सिद्धान्त को जानते हैं, उन्हें ज्ञात है कि करांची नगर समुद्र के ठीक किनारे पर नहीं,केवल उसके पास बस रहा है। जितने व्यापारी अपना माल करांची भेजते हैं। चाहे माल जिस शहर के अन्दर कोठी में ही बन्द रखा हो जो समुद्र से दो मील की दूरी पर है,फिर भी जून,जुलाई माह में समुद्र अपनी वायु को फैलाता है—तो सब माल जिन्स, बोरियों और गट्ठों में बन्द रहते हुये भी वजन में बढ़ जाता है। समुद्र की सिञ्चित(नम) वायु प्रत्येक जिन्स में जबरदस्ती प्रवेश कर जाती है, और वही वजन की अधिकता व्यापारी लोगों को लाभ पहुंचाती है। इसी प्रकार प्रभु की शरण में पड़े हुए को चाहे मिलाप की सूरत न भी बने, प्रभु अपनी कृपा कटाक्ष से अपनी बरकत भरे मधुर रस को अपने आश्रित शरणागत के अन्दर जबरदस्ती दाखिल कर देते हैं। इसलिये मनुष्य यह न समझे कि दर्शन तो होते नहीं, प्रभु की आराधना, उपासना की सिरदर्दी क्यों की जाये। प्रभु का प्रसाद उसके उपासक को गुप्त रूप में अवश्य मिल जाता है। मैंने इसका अनुभव, साक्षात् अनेकों बार किया है। यह और बात है कि मैं अपनी अल्पज्ञता और पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण उसे २४ घण्टे

अपने मस्तक में न बसा सकूं, भूल जाया करूं परन्तु प्रभु अपनी बरकत से कभी भी किसी उपासक आश्रित को वञ्चित नहीं रखते।

मन्त्र से किस भांति रक्षा होती है ?

मन्त्र के अर्थ तो विद्वान जो करें सो करें, परन्तु मैं अपनी स्थूल बुद्धि के अनुसार इसी तरह लगाता हूं। मन+त्र अर्थात् मन अर्थात् हृदय और त्र का अर्थ रक्षा करने वाला है, जो मन की रक्षा करने वाला है। वही मन्त्र है। मुझे इस व्रत में अनेक बार इस बात का अनुभव हुआ है कि जब भी कोई कुविचार मेरे मन में उठा उसी समय तत्सम्बन्धी मन्त्र मेरे सम्मुख आ गया। जो मन कुविचार में दौड़ रहा था, वही मन मन्त्र के शब्दार्थों को अपनी आंतरिक आंखों से देखने में जुड़ गया और कुविचार बन्द हो गया। किसी समय तो मलामत भी अपने आपको करके लज्जित हो गया।

इस व्रत से पूर्व मुझे इस प्रकार के मन्त्र के द्वारा दृष्टिगोचर होने की सूरत में रक्षा का अवसर कभी प्राप्त नहीं हुआ था (अन्य विधियों से होता था) उस का कारण यह था कि पहले मैं जो प्रार्थना संध्या के मन्त्र प्रातः सायं बोलता था वह शब्द उच्चारण मात्र

ही होते थे, वाचिक अथवा मानसिक, परन्तु अब मैं प्रभु के इस प्रसाद को पाकर प्रत्येक मन्त्र के शब्द-२ के साथ-२ अर्थों और भावों में (प्रार्थना अथवा संध्या) भावना के रूप में मन में उच्चारण करता हूं। पहले तो इस विधि से मन्त्र के प्रत्येक शब्द का अर्थ और भाव नये-२ रूप में भी मालूम होता रहा, कभी प्रति-दिन, कभी कई-२ दिन बाद। जब उससे रस आने लगा तो अनायास बिना मेरी किसी समझ अथवा संकल्प के प्रभु की ऐसी कृपा हुई कि जब भी कोई विचार आया तो मन्त्र सामने आ गया। उदाहरण के लिये मैं मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः' के साथ इस प्रकार प्रार्थना करता रहता हूं कि हे प्रभु! मैं तो किसी से द्वेष न करूं और अगर कोई अन्य मेरे साथ किसी रीति से भी द्वेष करे तो उसके प्रतिकार का भाव तक भी मेरे मन में उत्पन्न न हो। मैं उसे तुरन्त ही तेरे न्याय पर छोड़ूं, जिससे तू कृपा करके अपनी करुणा से हमारे पारस्परिक द्वेष को दग्ध कर दे! भस्म कर दे और हमारा आपस में प्रेम बना दे और हमें सुबुद्धि तथा सुमति प्रदान कर।

अब मुझे अनायास ही बीती घटनाओं के याद आने पर, अथवा नये विकल्प के रूप में विचार बन जाने पर मन में क्रोध आने लगता, अथवा सख्त सुस्त समझ कर अपना बदला लेने का विचार होने लगता तो ठीक उसी समय 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं' प्रभु प्रसाद लेकर सामने यथार्थ रूप में प्रगट होने लगता, जिससे मन तुरन्त क्रोध से हटकर प्रभु प्रसाद में लग-लगकर शान्त हो जाता है। आज ही मनसा परिक्रमा के शब्द का विचार आया, मालूम हुआ कि यही मन्त्र वस्तुतः मन मन्दिर की परिक्रमा करने वाले हैं। जिस मन मन्दिर में मनुष्य का इष्ट देव श्री परमात्मनदेव विराजमान हैं और उसके मन्त्र उसकी (अपने प्रभु की) परिक्रमा कर रहे हैं और मन इन्हीं से सुरक्षित हो रहा है, ऐसे ही अनेक प्रकार के विचारों में प्रार्थना और संध्या के मन्त्रों से कोई सम्बन्धित मन्त्र मेरी रक्षा करने के लिये भगवान् सामने कर देते है। इसी व्रत से पूर्व में अर्थों के साथ इसीलिए न करता था कि मुझे विश्वास नहीं जमता था कि पण्डित लोग कहते हैं कि संध्या में दिल तब ही लगेगा जब अर्थ सहित करोगे और म यही समझता कि यह लोगों

को जो जवाब दे रहे हैं, तिफ्ल तसल्ली (बाल बहलावा) कर रहे हैं न यह स्वयं अर्थ सहित करते होंगे और न ही लोगों की तरह इनका दिल लगता होगा। अब प्रभु की कृपा जब हुई तो मुझे बिना मेरी इच्छा के प्रभु ने अपने आप इस क्रिया में जोड़ कर इसका वास्तविक अनुभव करा दिया। अब मैं अपने अनुभव से और प्रसाद को प्राप्त करने के जोर पर कह सकता हूं कि यदि कोई मनुष्य सचमुच अपनी रक्षा चाहता है, तो मन्त्र ही उसके लिये बिना मूल्य प्रसाद (परसाद) सच्चा रक्षक बन सकता है।

कर्मों का फल

कर्मों का फल तीन रूपों में मिला करता है --

(अ) जागृत अवस्था के अन्दर स्थूल शरीर से जिसका अपने अतिरिक्त दूसरों को भी ज्ञान होता है सुख या दुःख।

(आ) जागृत अवस्था के अन्दर केवल विचार की दुनिया के द्वारा जिसका दूसरों को ज्ञान नहीं हो सकता और स्वयं भी भूल जाता है।

(इ) स्वप्न अवस्था के द्वारा — भोग की प्राप्ति।

कर्मों का फल जाति, आयु और भोग हुआ

करता है। जिन कर्मों का फल भोग है। किसी समय किसी मनुष्य का पुण्य ऐसा होता है जिसके बदले में पुत्र, धन अथवा यश इनमें से केवल एक ही पदार्थ मिल सकता है, जो प्रभु अपने आधीन नहीं रखते अपितु मानव कर्मकर्ता की अपनी इच्छा पर ही छोड़ते हैं। उसे एक ही चीज मिलेगी दूसरी नहीं। जिन मनुष्यों के ऐसे पुण्य होते हैं, फल मिलने वाले जन्म में उनकी प्रवृत्ति जिधर होती है, वे वही चीज ही पा लेते हैं। उदाहरण रूप में, कई धनवान् ऐसे हैं, जिनकी सन्तति नहीं, उनकी रुचि प्रारम्भ से धन प्राप्ति में ही हो गई और ऐसी प्रवृत्ति हुई कि धन के बिना उनको रात नजर आती है और पुत्र के जन्म-दिन के प्रकाश को देखना तो चाहते हैं क्योंकि वह गृहस्थ का संस्कार स्वाभाविक होता है, परन्तु कर्मों का संस्कार नहीं और ऐसी इच्छा लगभग १० प्रतिशत होती है। ९० प्रतिशत धन के लिए वह अपनी कुर्बानी करते हैं। स्त्रियों की प्रवृत्ति पुत्रैषणा में होती है। परन्तु पुरुष कीप्रबल प्रवृत्ति उन पर गालिब होती है। कई लोग यश के ऊपर मस्ताना होते हैं, उनको धन मिले या न, पुत्र प्राप्त हो या न, परन्तु यश के बिना वह अपनी मृत्यु

समझते हैं, इसीलिये वे यश के देने वाले कामों में व्यस्त रहते हैं। धन और पुत्रैषणा उनको भी इतने प्रतिशत से अधिक नहीं होती, ऐसे मनुष्यों के पुत्र न होना कोई पाप का बदला नहीं होता, अपितु पाप का बदला तब होता है जब किसी के न पुत्र हो, न धन और न यश।

ऐसे धनवान् बेपुत्रों को यदि किसी इस जन्म के नए कर्म विशेष करने के बदले पुत्र प्राप्ति हो जाए तो धन का भोग उसके लिए समाप्त होगा, यदि ऐसे यशस्वी बेपुत्र को कर्म विशेष के बदले में पुत्र मिल जावे तो वह यश वहीं पर समाप्त हो जावेगा।

मन की चचंलता दूर करने का साधन

ओं यज्जाग्रतो दूर मुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमंज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्तिविदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्यो तिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऋते किञ्चिनकर्म क्रियते तन्मेमनः शिव-संकल्पमस्तु ॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोतातन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यस्मिन्नृचः सामयजं् षियस्मिन् प्रतिष्ठतारथनाभा–
विवाराः ।
यस्मिश्चित्तं् सर्वमोतं प्रजानाँ तन्मे मनः शिवसंकल्प-
मस्तु ।।
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनः
इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।
य० अ० ३४ मं० १--६

१. जब कोई साधक जप अथवा साधारण ध्यान करने बैठ जाए और बीच में यदि चचल होकर अपनी-अपनी बातें करने लगे, संकल्प, विकल्प उठाए, तो तुरन्त अपना कार्य छोड़ कर मन को कह दे कि 'अच्छा तू अब अपनी बातें जी भर कर ले। मैं तेरी ही सुनता हूं, अपना कार्य पीछे कर लूंगा' और मन की ओर ध्यान करे। उस समय मन की ऐसी अवस्था हो जाती है कि कोई संकल्प विकल्प अथवा बातचीत मन के अन्दर रहती ही नहीं, काफूर होकर उड़ जाती है और ऐसी मौन और शान्ति की दशा (निरुद्ध अवस्था) आ जाती है कि मानो निर्विकल्प समाधि स्वयं लग गई है। यद्यपि मन अपनेस्वभाव से हटता नहीं क्योंकि उसका स्वभाव चंचल है परन्तु साधक को ऐसा ही उसके साथ

बार-२ करने से कुछ-२ समय के लिए निर्विकल्प समाधि का आनन्द स्वयं प्रतीत होने लगता है, इससे विक्षेप, क्लेश, अशान्ति अथवा क्रोध भी नहीं करना पड़ता। मैंने यही सुगम विधि अपने प्रभु का प्रसाद समझ कर क्रियान्वित की हुई है और इसलिए अपने अनुभव से लिखा है।

२. मन बड़ी अमूल्य वस्तु है। परन्तु भयानक भी है, जब विकार (आध्यात्मिक विकार) उत्पन्न करने लगता है तब सारी कीमत एक दम में कौड़ी के बराबर बना देता है। ऐसे समय उसको यह कहना कि 'अरे तू अपनी हांकले, मैं तुझे सुनाता हूं' ठीक नहीं रहेगा, न ही उसकी मिन्नत, खुशामद करने से काम चलेगा। उस समय सख्त डाट-डपट करनी पड़ेगी, तब चुप होगा। इसके साथ ब्राह्मण बन कर भी पहले बर्ताव करना चाहिए अर्थात् उस विकार के परिणाम को असली रूप में उसे सम्मुख करके सन्मार्ग पर लाने का उपदेश करना चाहिए, यदि मान जाए तो ठीक ही है परन्तु अनेकों बार ऐसा भी अनुभव में आया है कि ब्राह्मण रीति से नहीं मानता, तब वैश्य बन कर इसे

लोभ देकर अथवा रोचक शब्द कहकर गुणों की ओर ले जाना चाहिए और उसको सच्ची प्रशंसा से उसकी वर्तमान मान प्रतिष्ठा और धर्मात्मापन की याद दिला कर ऊंचा-२ बनने को उत्तेजना करनी चाहिए। जब इन दोनों विधियों से काम न निकले तब क्षत्री का रुद्र रूप बना कर ताड़ना और तर्जना से काम लेना चाहिए। तब मन अमूल्य पदार्थ बन कर रहेगा नहीं तो आत्मा को भी कौड़ी का नहीं रखेगा।

३. प्रायश्चित और प्रार्थना रुदन और अनुनय से प्रभु के दरबार में करने से प्रभु की सहायता मिलती है और मन शान्त हो जाता है।

४. मन को हर समय भी डाँट-डपट नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसकी शक्तियां गुप्तरूप मे जिद्दी बन कर बदला लेती हैं। राग और द्वेष का तो यह प्रसिद्ध सदन है, इसका वेग समुद्र से भी अधिक बलवान् है। एकदम नदी के प्रवाह को रोका जावे तो वह किनारे तोड़कर भी उछल पड़ती है, यही हाल मन का है। अतः प्रेम और प्यार भी इससे बहुत बार करना उचित है ताकि अपना पराया न बन जाये।

५. जैसे शारीरिक रोग औषधियों से दूर होते हैं ऐसे ही मानसिक रोग सत्य के ग्रहण और विचार से ठीक होते हैं। मन को धोखे से कभी नहीं समझाना चाहिए, यह पाप का अंकुर अपने अन्दर पैदा करता है। सदा इसके साथ सत्य व्यवहार करना चाहिए। कई कंजूस अथवा साधक महात्मा भी इसकी इच्छा को आगे का दिलासा देकर टालते ही रहते हैं परन्तु यह अपनी आत्मा के साथ बुराई करनी है। जब भी इससे वायदा किया जावे, तो उसे जरूर ही पूरा कर दिया जावे, पश्चात् प्रेम और नम्रता से उससे क्षमा ले ली जावे। यह मन ऐसी चाबी है जो संसार के कुल विकारों को बिना किसी के समझाए-बुझाए अन्दर से नई-नई विधि पैदा करके खोल डालती है क्योंकि प्रकृति में जो प्रथम अवस्था विकृति की पैदा हुई, वह मन के रूप में हुई। यह पहला विकार है जिससे यह सारा जगत् बनकर सामने नजर आ रहा है, इसलिये इसकी गुप्त शक्तियों से आत्मा परिचित नहीं है।

स्वतन्त्रता

संसार समस्त प्राणियों में एक मनुष्य है जो अपने आपको स्वतन्त्र कहता और कहलाता है और शेष शरीरधारी जीवों को परतन्त्र और कैदी माना

गया है मगर देखने में उल्टा ही प्रतीत होता है। अभी इस वाटिका (बगीचा) के चमन में या बाजार में एक बैल या घोड़ा चलते-२ शौच (पाखाना) कर देता है, उसे कोई असभ्य नहीं कहता, न ही कोई डांट-डपट होती है। अगर उस जगह कोई मनुष्य शौच कर देवे तो धत-२ खले-२ (असभ्य-२) की आवाज आने लग जावे। म्यूनिस्पेलिटी हो तो धारा ३४ में भी बेचारे का चालान कर दे। मैदान हो या आबादी, एक गधा अपनी कामासक्ति से गधी के साथ जन-समूह की उपस्थिति में भी विषय भोग करने लग पड़ता है। यदि कोई मनुष्य किसी स्त्री से छेड़-छाड़ भी करे तो उसके सिर पर जूते-चप्पलों की तड़ातड़ सुनाई देने लग पड़ेगी। इतने तक ही बस नहीं उसे कारावास (कैद-खाने) की कोठरी का मुख देखना पड़ेगा।

चलता हुआ ऊंट मार्ग में किसी के खेत से मटरों में मुंह मारकर बलात् खाना आरम्भ कर देगा तो उसे डाकू चोर कोई नहीं कहेगा। लेकिन यदि मनुष्य मटर उखाड़ने लगे तो दूर से किसान चोर-२ की आवाज हांकने लग जावेगा।

मनुष्य स्वतन्त्र है या पशु

एक भैंस किसी को अपने सींगों से उठाकर फैंक दे या जख्मी कर दे तो कोई नहीं पूछेगा, परन्तु मनुष्य किसी को मामूली धक्का देवे तो उस पर फौजदारी मुकद्दमा (अभियोग) चल जावेगा।

अब तुलना करके देखा जावे तो कौन कह सकता है कि मनुष्य स्वतन्त्र है और पशु परतन्त्र, दोनों की इन्द्रियां प्रकृति के स्वामी से प्रदत्त हैं और दोनों की इन्द्रियों का विषय और ध्येय, प्रकृति के अनुसार एक ही है। हर एक इन्द्रिय का झुकाव अपने विषय की तरफ एक प्राकृतिक (स्वाभाविक) क्रिया है न कि प्रकृति के विरुद्ध। फिर भी मनुष्य जो स्वतन्त्र उस पर सख्त पाबन्दी (कड़ा-बन्धन) है और वही आधीन और परतन्त्र है। पशु की इन्द्रियां स्वतन्त्रता से अपना विषय भोग पूरा कर सकने में स्वतन्त्र हैं। फिर मनुष्य कहता है कि स्वतन्त्रता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है।

स्वतन्त्रता का अर्थ

स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। जब तक मनुष्य स्वतन्त्रता के वास्तविक अर्थों को नहीं समझता और जानता तब तक तो मनुष्य उसके प्राप्त करने का अधिकार ही नहीं रख सकता। वह तो पशु

जीवन से भी बहुत भयानक जीवन में बसेरा कर रहा है। स्वतन्त्र शब्द स्वत:+अन्त का सम्मिश्रण है। स्वत: का अर्थ है अधिकार, कब्जा और अन्त: का अर्थ अन्त: करण (मन, चित्त,बुद्धि और अंहकार) है। जिस मनुष्य का अपने अन्त:करण के ऊपर अधिकार है, मन बुद्धि अपने वश में है, जो मनुष्य चित्त अहंकार पर कब्जा रखता है वही स्वतन्त्र है। संसार में विरले ही मनुष्य इस कसोटी पर परखे जाकर ठीक स्वतन्त्र सिद्ध होंगें, नहीं तो हर एक मनुष्य न तो अपनी इन्द्रियों का खुल्लम-खुला बिना किसी भय के उपयोग कर सकता है और न ही उसे संसार में सुख की प्राप्ति हो सकती है। पशुओं को तो अपने व्यवसाय (रोजी) और अपने ठिकाने की चिन्ता ही नहीं, परन्तु मनुष्य इन दोनों में ग्रस्त है। पशुओं को कोई पाप तक लगता नहीं और मनुष्य रोजी की कमाई बिना पाप के करता ही नहीं, इस का जीवन पाप से ही गुजरता है।

मनुष्य के जीवन का उद्देश्य

जहां मनुष्य के लिए इन्द्रियों के विषयों के भोग में प्रभु ने कितनी भारी रोक रखी है वहां उतनी ही अपार दया का प्रमाण भी दिया है, कि समस्त संसार

के पदार्थ नाना प्रकार के अन्न, रस, फल, फूल, मेवे मिठाईयां, सोना, चांदी, कमखाब, मखमल कशमोरे और पट्टी, मलमल और खासे आदि सब के सब इसी मनुष्य को प्रदान किये। पशु, घास, भूसा का भोग करे, फल खावे तो कच्चा, फल पकने पर मनुष्य तीर और गुलेल से पशुओं को दूर भगाये। इस भेद को समझना ही मनुष्य के जीवन का असली मुख्य उद्देश्य है। जिस मनुष्य ने यह अमूल्य जन्म पाकर अपने लक्ष्य की सफलता के लिए कोई तपस्या या पुरुषार्थ नहीं किया या जो अभी अपने जीवन का लक्ष्य समझा ही नहीं, जिसका कोई उद्देश्य या जीवन का आदर्श नहीं बना, उसका तो मानो पृथ्वी पर एक पशु के बोझ से भी ज्यादा धिक्कार मय बोझ है, क्योंकि पशु तो अपने जीवन में प्राकृतिक नियमों की पूरी-२ पाबन्धी करके उनका कभी भी उल्लंघन न करते हुये अपने पशुपन को बदनाम नहीं करता, इसीलिये वह जिन पापों का फल भोगने के लिये उत्पन्न हुआ, वह सब पाप समाप्त करके मरता है।

अर्थात् अपने सिर से पापों का बोझ उतार लेता है और मनुष्य जो पुण्य कर्मों को बढ़ाने और

प्रभु के निकटतम होने के लिये उत्पन्न किया गया वह उलटा अपने ऊपर पापों का बोझ लाद देता है। और प्रभु से बजाए समीप होने के और भी ज्यादा दूर हो जाता है। संसार की पाठशाला में हम प्रतिदिन इस पाठ को अपनी आंखों के सामने देखते हैं कि किसान ने हर एक वृक्ष का बीज भूमि के नीचे दबा दिया, वह प्राकृतिक नियम की सहायता से प्रभु आश्रय पर ऊपर ही ऊपर चढ़ता चला जाता है, और अपनी छाया से हर प्रकार के प्राणियों को बसेरा देनें का परोपकार कमाता है। नाना प्रकार के फलों से, क्या अपने रसों से. क्या पापी और क्या पुण्यात्मा, सब को तृप्त करता और अपने लिए कुछ भी ग्रहण नहीं करता हालांकि यह वृक्ष योनि उन अति पापों का फल है जो इस मनुष्य देवता ने अपने किसी जन्म में भगवान की आज्ञाओं का सर्वथा उल्लंघन किया था और अब घोर पश्चाताप के रूप में प्रभु की प्रजा पशु पक्षी मनुष्य कीट आदि सबकी सेवा और सेवा भाव से अपने पापों को धोकर अपना आमालनामा उज्ज्वल बना रहा है। फिर भी जो मनुष्य इस पाठ को अपने जीवन मैं ढालने

का यत्न न करे तो उसको सिवाय धिक्कार के और क्या अधिकार मिलेगा।

निष्काम सकाम कर्म

दूसरी बात हम वृक्षों में देखते हैं जो वृक्ष फल की आशा नहीं करते, वे सदा ऊंचे से ऊंचे जाते हैं। और जो फल की लालसा में रहते हैं जब भी फल उन को प्राप्त होता है वह बजाए ऊंचा जाने के उनको भूमि की ओर और नीचे ही झुकना पड़ता है। कई वृक्ष तो अधिक फल से लदकर अपनी टहनियों, शाखाओं (भुजाओं) को भी तुड़वा बैठते हैं। यही हाल मनुष्य का हैं जिन्होंने परोपकार के कर्म बिना किसी फल की आशा के किए, वे तो सर्वदा ऊंचे रहे और जिन्होंने परोपकार का कर्म तो किया परन्तु फल की इच्छा के लिये, तो उनको भी फिर इस मर्त्य लोक में नीचा ही नीचा होना पड़ा और ज्यादा धनी, ज्यादा कुटुम्बी तो आये दिन रोगी और वियोगों के कष्ट झेलते ही रहते हैं। जन्म जन्मान्तर के कुसंस्कारों ने हमारी बुद्धि को बेड़ियां लगाकर कस दिया है और उसे स्वतन्त्र होने की कोई युक्ति नहीं सूझती। जन्मते ही वे भोग, विलास और प्राकृतिक सौन्दर्य में अपने आप को फंसा लेता है।

कोई उसे इस विपत्ति से छुटनें का मार्ग बतावे भी, तो उसे उधर उलटे काँठे नजर आते हैं, चुपकेसे मुंह फेर कर अनसुनी सी कर लेता है। देशों के सम्राट तो बाहर शत्रुओं के डर से अपने इर्द-गिर्द सशस्त्र पहरेदार रखते हैं परन्तु हम अधम मनुष्य होकर भी इसके डबल पहरे के नीचे रहते हैं। बाहर के बैरियों से तो इसका बचाव हो भी जावे, परन्तु हमारे तो अन्दर भी बैरी हैं और बाहर भी। चारों तरफ हम पापों की छाया से घिरे हुए हैं। दायें, बायें, आगे जहां भी हमारा पग पड़े पाप साथ ही है। जागृतावस्था को छोड़ कर स्वप्न में भी पीछा नहीं छोड़ता। फिर इससे बचने के लिए कोई शस्त्र नहीं। कोई रक्षक नहीं बनाते। वह क्षत्रिय मैदान में कब रणजीत हो सकता है जिसका घर अन्दर के ही शत्रुओं ने वश में करके उसके सिर को पकड़ रखा है और उसकी छाती पर चढ़ बैठे हैं और बाहु में "मारे आस्तीन" (सांप) बिठाया हुआ है परन्तु फिर भी ऐसे नशे में मस्त है कि उसके अस्तित्व का उसे ज्ञान नहीं। सच पूछो तो मानव जीवन एक दुःख का जीवन है और फिर भी उसी दुःख भरे जंजाल में अपने आप को सुखी और भाग्यवान मान रहा है, दुःख को

सुख जान रहा है, वास्तविक उद्देश्य से कोसों दूर जा रहा है। समय आयेगा जब पश्चाताप करते हुए फूट-फूटकर रोना पड़ेगा, आपत्ति पर आपत्ति आयेगी और होश-हवास कर दबा देगी। बेगाने तो बेगाने थे ही प्राय: अपने भी बेगाने बनें। जैसे हम प्रभु से दूर हुये वे भी हमसे दूर भागेंगे। आंखों के सामने चारों ओर अन्धेरा प्रतीत होगा। कोई मित्र और सहायक नहीं होगा, तब विवश होकर मुख से निकलेगा।

वतन दुरेड़ा असाड़ा देश दुरेड़ा।
आपई राह ओलड़े, साई पार लंघाई ।।

बार-बार कहेंगे प्रभु आप मेरे पिता हो दयालु पिता हो! मुझ पतित पुत्र की सुध लो, मेरे पापों को क्षमा करो, मैं भूल गया, 'आप तो परम वैद्यराज हो। आपका उत्तम नाम ही सर्व औषध है। मेरा कल्याण करो। आप दुःख विनाशक हो। मेरे दुःखों को दूर करो। मुझे आपत्ति के चंगुल से छुड़ाओ। मेरी दयनीय दीनअवस्था पर करूणा करो, दया करो। मैं निराश्रय हूं। तेरे सिवा अब मेरा कोई नहीं। मनुष्य को दूसरे रोगियों, निर्बलों, आपदों में फंसे हुओं और अपने से बदहालों की अवस्था का सदा पाठ करते रहना चाहिए

और उस महान न्यायकारी प्रभु से शर्म खाते रहना चाहिए, नहीं तो डरते रहना चाहिए ताकि हम पापों से बचे रह सके। यदि प्रभु की लज्जा और भय हृदय में पैदा नहीं कर सकते तो उससे निकृष्ट दर्जे में प्रवेश करके, राज्य का, सभा का, जाति का शर्म और भय रखकर पाप से बचना चाहिए।

पाप से बचने के उपाय

यदि हम ऐसा भी नहीं कर सकते तो इससे भी निकृष्ट कक्षा में प्रवेश करके अहनें कुटुम्ब परिवार बाल-बच्चों पर तरस करके पापों से बचना चाहिए क्योंकि हमारे पाप के फल में ग्रस्त हो जाने पर हमारे पाप का बुरा प्रभाव पड़ेगा। बीमार की सेवा करने वाला बीमार से अधिक कष्ट में पड़ जाता है। सारांश यह है कि कोई न कोई साधन अपना रक्षक बनाये रखना चाहिए और अपना उद्देश्य यदि स्वयं नहीं समझ सकते तो आदर्श पुरुषों को अपना लक्ष्य बना कर अपना जीवन सफल बनाना चाहिए ताकि परलोक में लज्जा न उठानी पड़े। जो थोड़ा बहुत भी पग इस मार्ग पर इस जन्म में रख लेगा, वह किसी न किसी जन्म में स्वयं आदर्श जीवन का स्वामी बनकर लोगों

का पथ-प्रदर्शक बनेगा और अपने अन्तःकरण के ऊपर अधिकार बनाकर स्वतन्त्र होकर प्रभु की अमृत गोद में आनन्द लेने और स्वेच्छाचारी बरतने के सौभाग्य को प्राप्त करेगा।

– ओ३म् शुभम् –

ओ३म्

मन मर्कट—मन महादेव

(श्री दौलतराम जी शास्त्री अमृतसरी)

हम घर में बैठे होते हैं,
मन लन्दन से हो आता है।
हम खटिया पर सोये होते हैं,
यह रवि मण्डल में जाता है। १।
गौरीशंकर की चोटी की,
लंगड़ों को सैर कराता है।
सागर की तह में भी जाकर,
यह नहीं भीगने पाता है। २।
ग्रह नक्षत्रों की चालों को तो,
विद्वानों ने जान लिया।
पर मन मर्कट की चाल गति का,
अब लों नहीं अनुमान किया। ३।

इसनें तेजस्वी नारद का,
बन्दर सा रूप बना डाला।
इसनें ही ब्रह्मा जैसों से,
अति निन्द कर्म करवा डाला। ४।
इसके जादू की डोरी नें,
अवतारों को भी जकड़ लिया।
भंघी के घर में कौशिक को,
श्रो: चोरी करते पकड़ लिया। ५।
सिद्ध पराशर से ऋषियों का,
गर्व गिराया मनुआ ने।
विश्वनन्द्य शिष्टों से गर्हित,
कर्म कराया मनुआं नें। ६।
नहुषराज को इन्द्रासन,
दिलवाने वाला यही तो था।
ऋषियों के कंधे सिंहासन,
धरनें वाला यही तो था। ७।
सर्प-सर्प कह ऋषियों को,
ठुकराने वाला यही तो था।
सर्प योनि में फिर उसको,
गिरवाने वाला यही तो था। ८।

देवों का यह महादेव,
राक्षस यह और पिशाच यही ।
बड़े राज परिवारों से
करवाता नंगा नाच यही । ६ ।

इसने ही कैकेयी से मिल,
घर में आग लगाई थी ।
इसने ही वन में सूर्पनखा की,
कर्ण नाक कटवाई थी । १० ।

किसने पाञ्चाली के द्वारा,
दुर्योधन का उपहास किया ।
अन्धे के जन्मा अन्धपुत्र,
जिसने कुरुवंश विनाश किया । ११ ।

था कुरुक्षेत्र का नेता कौन ?
किसने लंका का दाह किया ।
किसने यादव कुल सारा,
विध्वंस किया और स्याह किया । १२ ।

किसके कौतुक का फल है,
पंजाब देश का बटवारा ? ।
बीभत्स कर्म करवा करके,
नौलाख व्यक्ति किसने मारा । १३ ।

यह काम इन्द्रियों से लेता,
पर आप निराला रहता है।
कटु वाक्य कहे सुसरी रसना,
सिर मार मशाला सहता है। १४।

यह बैठा हुकम चलाता है,
हैं पांच सहायक ठग इसके।
उनके भी चेले पांच और,
जो रहें दबाते पग इसके। १५।

एक नारी ठगनी-चोटी,
जो इन भड़वों से प्यार करे।
वह इनके द्वारा दुनियां को,
बेचैन तथा संहार करे। १६।

इन महा भंयकर असुरों से,
बचने को हम दर-दर घूमे।
बहु हथ-कण्डे-धर पण्डों के,
अरु मुस्टण्डों के पग चूमे। १७।

जिस कुएं के पास गए,
उसमें जलती ज्वाला देखी।
जिनको था समझा परमहंस,
वह दम्भ रंग शाला देखी। १८।

मन ब्रह्म नपुंसक हैं दोनों,
मर्दों को इनसे प्यार नहीं।
माइयों पर मन्दिर मठ चलते,
वे नहीं तो बस संसार नहीं। १९।
उनसे क्या हो सकती आशा,
जो धन बदले मन देते हैं।
उनसे तो भगवन् त्राहि-त्राहि,
जो तन बदले मन देते हैं। २०।
बिनु योगाभ्यासी के इसकी कोई,
नहीं दवाई कह सकता।
जिसका घर अपना साफ हुआ,
जन वही सफाई कह सकता। २१।
जो फिरते हैं बाजारों में,
वे योगी नहीं मदारी हैं।
दें इश्तेहार अखबारों में,
वे साधारण संसारी हैं। २२।
सच्चे योगाभ्यासी का मन,
स्वयं अचल हो जाता है।
जिस भांति हिमालय में माखन,
हिम सा निश्चल हो जाता है। २३।
सकल विकारों का योगी में,
ऐसे होता है निर्णय।
उछल कूदती नदियों का,
ज्यों सागर में होता है लय। २४।

तू यम नियमों का पालन कर,
मन स्वयं दास हो जाता है।
इन दस प्रश्नों को हल करले,
फिर देख पास हो जाता है। २५।

पर

हम वन वश करना चाहते हैं,
लवलीन सभी श्रृंगारों में।
हम चाहे घी भी जमा रहे,
पर पड़ा भी रहे अंगारों में। २६।

हम सस्ता सौदा चाहते हैं,
धन के बल सीट रिजर्व करें।
छिप-छिप कर डाके भी मारें,
प्रभु भक्ति का भी गर्व करें। २७।

वह नहीं योग का अधिकारी,
जो मन मर्जी का भोज करे,
वह प्रथम शुद्ध आचार करे जब,
फिर योगी की खोज करे। २८।

जब संयम पर आरूढ़ हुआ,
फिर यह सारा कुछ-कुछ नहीं।
फिर मन जाने को कौन ठौर,
जब विश्व बेचारा कुछ नहीं। २९।

फिर जब

मनका मन भर जाता है,
माशा हो जाता मन भर का ।
आनन्द सरोवर जब उमड़े,
युग भी हो जाता क्षण भर का । ३० ।

जिस भाँति हिमालय पै पतंग.
जैसे हो सागर निस्तरंग ।
जैसे दीपक बिनु पवन संग,
वैसे तब मन होगा असंग । ३१ ।

मन का वकील स्वयं

मन उवाच

आः लाला पण्डित भिखमंगे,
सबने मुझ पर धावा बोला ।
अपशब्दों द्वारा कोस रहे,
मेरे विपरीत हुआ टोला । १ ।
मैं तो आधीन सिपाही हूँ,
कोई जिधर भेज दे जाता हूं ।
बिनु वेतन सारे काम करूं,
फिर भी पापी कहलाता हूं । २ ।
मैं नन्हा हूं फिर भी मुझ को,
ये सब मरवाना चाहते हैं ।
मैं मौन रहूँ मेरी चुप में,
निज पाप छिपाना चाहते हैं । ३ ।

मैं आज साफ कह देता हूं,
मैं स्वयं वकालत कर लूंगा।
इस पक्षपात के बरखिलाफ,
अब घोर बगावत कर दूंगा। ४।
तुम किसको जिह्वा से कहते हो,
मैं पापी और निकम्मा हूं।
तुम तो सोनें की चिड़िया हो,
मैं लोहा तथा, मुलम्मा हूं। ५।

सफाई दान

मैं जनकराज के पास रहा, सब जीवनभर गम्भीर रहा।
जब गया राम की सेवा में, आज्ञाकारो प्रणवीर रहा। ६।
मैं पास शिवाजी के आया, नहीं आंख उठी पर नारी पर
मैं मंत्री बना हकीकत का,नहीं झिझका धर्म सफ़ाई पर।७।
राजपूतनी ललनाओं को, मैंने ही था हाथ दिया, दिया,
जौहर ज्वालामें जलने का था कहदो किसनें साथ दिया।८।
सूरदास को दिव्य नयन, मैं ही दिलवानें वाला था,
तुलसीदास से राम चरित, मैं ही लिखवाने वाला था। ९।
मैं तप्त तेल में तला गया, अरू रूई के सम धुना गया,
गुरू पुत्रों के साथ-२ मैं, दीवारों में चुना गया। १०।
जब फांसी हुई शहीदों को, मैंने चुपके उपदेश दिया,
दृढ़ रहो फिसलना मत वीरों, गीता नें यह सन्देश दिया।११।

नेहरू जी मुझे समझते हैं, मैं उनको खूब समझता हूं,
उनसे पूछो तो कह देंगे मैं हूं कौन रम्ज का हूँ। १२।
ऋषि दयानन्द की झंडी में, मेरे बल का अनुमान करें,
अरू सत्य विवेचव का जितना भरसक अभिमान करें।१३।
देखें शिव संकल्प मुझे, श्री यजुर्वेद में बतलाया,
देवों के भी महादेव का, पद है मुझ में दर्शाया। १४।

उपालम्भ

मैं उनके रहूं सदा वश में,
जिनका जीवन छल हीन रहे।
कर दूंगा उनका चैन नष्ट,
जो आडम्बर में लीन रहे। १५।
इन वेश धरों को विषधर ही,
कहने से नहीं घबराता हूं।
आचरण हीन उपदेशक को,
पथभ्रष्ट कराना चाहता हूं। १६।
तू कह दे पण्डित तिलक ढ़ोंग से,
कितने घर विरान किए।
तेरी पूजा की कुण्डी में,
कितने मीनों ने प्राण दिए। १७।
तेरी माला के मनके हैं,
या कारतूस बन्दूकों के।
जप करते-करते तोड़ दिए,
तूने ताले सन्दूकों के। १८।

तेरी हिरदे की कोमलता, वे जानें जिनसे प्रीत लगी।
या जाने जिनके घर उजड़े, या जानें जिनपै बीत रही। १६।

तुझ जैसों का मन्दिर में भी, जाना ढ़ोंग बहाना है।
या लगी प्रतीक्षा हलवे की, या कुत्सित और निशाना है। २०।

तू मुझ पर जादू पाता है, इन घण्टे वा घड़ियालों में।
यम-नियमों पर आचरण नहीं खालिए कान खड़तालों से। २१।

तेरा सब ढोल ढमक्का यह, रिश्वत खोरी की माता है।
कम तोल चोर बाजारी पर, इससे पर्दा पड़ जाता है। २२।

जो पाप साधन करने में, मुझको है दूत बना देता।
मैं भी चिढ़कर उस पापी को, उल्लू का पूत बना देता। २३।

सर्टिफिकेट दान

हैं दिए प्रशंसा-पत्र मुझे, वेदज्ञ महायति मुनियों ने।
श्री शंकर-भीष्म-पतन्जलि-जैमिनि-व्यास वेंशेषिक गुणियों ने।२४

लो महायान की बेला में, ऋषि दयानन्द मुझ से बोले।
शाबास तुम्हें मेरे मनुआं, तुम रहे धीर नाहीं डोले। २५।

मथुरा में गुरु महाराज ने, साभिमान जो दीक्षा दी।
आज पिता ने प्रण मेरे की ही, प्रत्यक्ष परीक्षा ली। २६।

तुम चंचल नहीं बड़े दृढ़ हो, चंचल कायर बतलाते हैं।
निर्बल ही तुझे कलंकी कहकर, अपने दोष छिपाते हैं। २७।

□ ओ३म् शुभम् □

पूज्य गुरुदेव महा० प्रभु आश्रित जी महाराज द्वारा लिखित पुस्तकों की सूचि

गायत्री रहस्य	20-00	गृहस्थ सुधार	15-00
दृष्टान्त मुक्तावली	15-00	मन्त्र योग भाग 1 और 2	15-00
पृथिवी का स्वर्ग	8-00	मन्त्र योग भाग 3 और 4	12-50
पथ-प्रदर्शक	5-50	गृहस्थाश्रम प्रवेशिका	5-00
चमकते अंगारे	3-00	वर घर की खोज	5-00
जीवन सुधार	6-00	विचार विचित्र	4-00
मनोवल	5-00	योग युक्ति	6-00
जीवन निर्माण	4-00	सेवाधर्म	5-00
जीवन यज्ञ	7-00	स्वप्न गुरु तथा देवों का शाप	3-00
सौम्य सन्त की प्रार्थनाए	5-00	निराकार साकार पूजा	3-00
व्रत अनुष्ठान प्रवचन	2-00	एक अद्भुत किरण	1-50
गायत्री कुसुमाञ्जली	2-00	निर्गुण सगुण उपासना	3-50
विखरे सुमन	5-00	जीवन गाथा	5-00
समाज सुधार	1-50	दुर्लभ वस्तु	1-50
साधना प्रचार	4-00	भाग्यवान गृहस्थी	1-25
अमृत के तीन घूंट	2-00	संभलो	1-00
आदर्श जीवन	3-50	हवन मन्त्र	2-50
उत्तम जीवन	0-40	जीवन चरित्र पहला भाग	2-00
आत्म चरित्र	6-00	डरो वह वड़ा जवरदस्त है	5-00
पावन यज्ञ प्रसाद	0-80	रहस्य को बातें	10-00
जीवन चरित्र चौथा भाग	3-00		
अध्यात्म सुधा भाग चार	18-00		
कर्म भोग चक्र	15-00		

(विशेष शताब्दी पुस्तकें)

प्रभु का स्वरूप	12-00	यज्ञ रहस्य	16-00
आत्म कथा महा० प्रभूआश्रित जी की	14-00	सन्ध्या सोपान	14-00

★ग्रेजुएट प्रिंटिंग प्रैस, देहली रोड़ रोहतक फोन 42673